साहित्य

अभिनवगुप्त

गणेश त्र्यं. देशपांडे



अभिनवगुप्त

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया – के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। नीचे बैठा लिपिक इसे लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.।
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली।

अभिनवगुप्त

लेखक

गणेश त्र्यं. देशपांडे

अनुवादक

मिथिलेश चतुर्वेदी



साहित्य अकादेमी

Abhinavgupta : Hindi Translation by Dr. Mithilesh Chaturvedi of G. T. Deshpande's Biography of *Abhinavgupta* in English. (1995)

प्रथम संस्करण : 1995

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, **नयी दिल्ली** 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मंदिर मार्ग, **नयी दिल्ली** 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, **कलकत्ता** 700 053
304 & 305 अन्ना सालई, तेनामपेट, **मद्रास** 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग,
दादर, **बम्बई** 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे.सी. मार्ग, **बंगलौर** 560 002

मूल्य : 50 रुपये

ISBN 81-7201-845-2



मुद्रक : कम्प्यूडाटा सर्विसेज, नई दिल्ली-110014

अनुवादक की ओर से

भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** पर अपने अध्ययन के दौरान मुझे डॉ॰ कान्तिचन्द्र पांडेय की पुस्तक **अभिनवगुप्त : एन हिस्टॉरिकल एंड फ़िलॉसॉफ़िकल स्टडी** को पढ़ने का अवसर मिला। अभिनवगुप्त के दर्शन का विस्तृत विवरण देने वाली इस पुस्तक ने मुझे प्रभावित किया और कश्मीर शैव दर्शन के प्रति मेरी उत्सुकता जाग्रत हुई। कश्मीर शैव दर्शन और आलंकारिकों के बीच अभिनवगुप्त की वही प्रतिष्ठा है जो वेदान्त दर्शन में शंकर को अथवा व्याकरण-दर्शन में भर्तृहरि को प्राप्त है। इसलिए जब साहित्य अकादेमी ने अभिनवगुप्त पर डॉ॰ गणेश त्र्यं. देशपांडे की पुस्तक प्रकाशित की तो मैंने इसके हिन्दी अनुवाद की इच्छा प्रकट की। अकादेमी ने मेरी यह इच्छा पूरी कर अभिनवगुप्त को कुछ और गहराई से पढ़ने का अवसर मुझे दिया। संयोग की बात है कि डॉ॰ देशपांडे की यह पुस्तक भी मुख्यतः डॉ॰ कान्तिचन्द्र पांडेय के ग्रन्थ पर आधारित है।

पुस्तक का अनुवाद करते हुए मैंने यत्र-तत्र इसमें कुछ त्रुटियाँ भी लक्षित कीं। उदाहरण के लिए मूल में **स्पन्दकारिका** पर कल्लट की टीका का नाम **स्पन्दसंदोह** बतलाया गया है जबकि कल्लट की टीका का नाम **स्पन्दसर्वस्व** था और **स्पन्दसंदोह** क्षेमराज की रचना थी। मूल में पृ॰ 76 पर 'भोजकत्व' के स्थान पर एक जगह 'भावकत्व' शब्द प्रयुक्त है। मूल के पृ॰ 73 पर स्थायी भाव के प्रसंग में indirect inference (परोक्ष अनुमान) शब्द का प्रयोग भी भ्रामक प्रतीत होता है। अनुमान तो परिभाषा से ही परोक्ष है। डॉ॰ पांडेय की पुस्तक में इस प्रसंग में 'अप्रत्यक्ष अनुकृति' का प्रयोग किया गया है (**इंडियन एस्थेटिक्स**, खंड-I, पृ॰ 49)। मेरे विचार में वही प्रयोग ठीक है। पाद-टिप्पणियों में भी कुछ छोटी-छोटी त्रुटियाँ हैं। अनुवादक के रूप में इन त्रुटियों को दुहराना या अनदेखा करना मुझे उचित नहीं लगा। मूल स्रोतों एवं डॉ॰ पाण्डेय की पुस्तक के आधार पर मैंने यत्र-तत्र इनके संमार्जन का कुछ प्रयास किया है। इसे संभवतः मेरी अनधिकार चेष्टा नहीं समझा जाएगा।

– मिथिलेश चतुर्वेदी

प्राक्कथन

अभिनवगुप्त पर मेरा यह विनिबन्ध मुख्यतः स्वर्गीय डॉ॰ कान्तिचन्द्र पांडेय के लेखन पर आधारित है जिन्होंने कश्मीर के शिवाद्वय दर्शन – जो एक सुविख्यात दार्शनिक संप्रदाय है किन्तु जिसका अध्ययन कम ही हुआ है – और इसके श्रेष्ठतम आचार्य अभिनवगुप्त के विषय में हमें विस्तृत जानकारी देने में अपने वैदुष्य का प्रयोग किया। जो लोग कश्मीर के शैवाद्वैत अथवा अभिनवगुप्त के सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अध्ययन के अभिलाषी हैं वे डॉ॰ पांडेय की कृतियों के सूक्ष्म अध्ययन के बिना इस कार्य में सफल नहीं हो सकते। मुझे लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व अभिनवगुप्त पर उनके प्रथम ग्रन्थ को पढ़ने का अवसर मिला। इस ग्रन्थ ने मुझमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अध्ययन के प्रति अभिरुचि जगाई। भारतीय सौंदर्यशास्त्र पर उनके प्रथम खंड ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति मेरा दृष्टिकोण ही बदल दिया। भास्करी के उनके खंडों से प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तत्त्वों को समझना मेरे लिए सुगम हो गया। इस प्रकार डॉ॰ पांडेय का लेखन अभिनवगुप्त, उनके दर्शन और उनके सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन में सदैव मेरा प्रेरणास्रोत रहा है। उनकी रचनाओं से सामग्री ग्रहण करने के अतिरिक्त मैंने उनके शब्दों का भी मुक्त रूप से उपयोग किया है, वैसे ही जैसे कोई छात्र अपने गुरु के चिन्तन और भाषा का उपयोग करेगा। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' की भावना से ही मैं अपने इस छोटे-से प्रयास को उनकी पवित्र स्मृति में समर्पित करता हूँ।

मैं इस विषय के अन्य लेखकों का भी आभारी हूँ जिनकी कृतियों का उपयोग मैंने इस विनिबन्ध को तैयार करने में किया है। उनका उल्लेख इस पुस्तक की संदर्भिका में अलग से कर दिया गया है।

यह विनिबन्ध अभिनवगुप्त के सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन और उसके शैवाद्वैत में उपलब्ध दार्शनिक आधार से पाठक को परिचित कराने का एक प्रयास है। मैंने यह दिखाने का भी प्रयास किया है कि जिस विषय पर भी उन्होंने लिखा – चाहे वह दर्शन हो या काव्यशास्त्र – उस सबमें कैसे आध्यात्मिकता की एक अन्तर्धारा चलती है जो 'चरम' के साथ एकात्मता में परिणत हो जाती है।

शिवाद्वय दर्शन से संबद्ध तीसरे अध्याय में मैंने उन मुद्दों को छुआ है जो मेरे मत में, अभिनवगुप्त के रस और ध्वनि-विषयक सिद्धान्त को समझने के लिए आवश्यक हैं। रस और ध्वनि का विवेचन चौथे और पाँचवें अध्याय का विषय है।

ये तीनों अध्याय संयुक्त रूप से इस पुस्तक का मर्म हैं। उनसे पहले अभिनवगुप्त के व्यक्तिगत इतिहास और उनके कृतित्व से सम्बन्धित अध्याय हैं और उनके बाद के अध्याय भारतीय चिन्तन पर उनके प्रभाव और उनके अवदान को दर्शाते हैं। मैं आशा करता हूँ कि पाठक इन पृष्ठों से अभिनवगुप्त का एक व्यक्ति के रूप में, सौंदर्यशास्त्री के रूप में, और शैवाद्वैत दर्शन के आचार्य के रूप में सामान्यतया आकलन कर सकेगा।

इस पुस्तक के अन्त में मैंने 'टिप्पणियाँ एवम् उद्धरण' के नाम से एक परिशिष्ट भी जोड़ा है। इस पुस्तक की विवेचनाएँ जिन स्रोतों पर आधारित हैं उन्हें सूचित करने के लिए अभिनवगुप्त के विभिन्न संस्कृत ग्रन्थों से मूल संस्कृत उद्धरण इस परिशिष्ट में दिये गये हैं। विनिबन्ध के मुख्य भाग में भी मैंने कुछ संस्कृत पद्यों को उद्धृत किया है। उनका मुक्त अनुवाद टिप्पणियों में दे दिया गया है।

अभिनवगुप्त के विषय में मेरे विचारों को इस विनिबन्ध में एकत्र प्रस्तुत करने का अवसर देने के लिए और इन पृष्ठों के प्रकाशन का दायित्व वहन करने के लिए, मैं साहित्य अकादेमी का आभारी हूँ।

इस विनिबन्ध की जो भी गुणवत्ता हो, मैं इसे पाठकों के हाथों में सौंपता हूँ और उनसे अनुरोध करता हूँ कि इसमें सुधार के लिए अपने सुझाव दें जिनका उपयोग अगले संस्करण में किया जा सकेगा।

– ग॰ त्र्यं॰ देशपांडे

विषय-सूची

एक

जीवन-वृत्त

अभिनवगुप्त अपने जीवन-वृत्त के बारे में कालिदास की भाँति सर्वथा मौन नहीं हैं। कालिदास अपने महाकाव्यों में अपने नाम का भी उल्लेख नहीं करते। किन्तु अभिनवगुप्त अपने दो ग्रन्थों, **तन्त्रालोक** और **परात्रिंशिकाविवरण**, में अपने जीवन और पूर्वजों के विषय में कुछ तथ्यों की चर्चा करते हैं। कभी-कभी अपनी विभिन्न टीकाओं में वे अपने गुरुओं का और उनसे पढ़े हुए विषयों का भी उल्लेख करते हैं। इन समस्त सूचनाओं को एक साथ रखकर और उन्हें यथासंभव कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित कर लेने के बाद हम उनके निजी जीवन का एक मोटा-मोटा खाका खींच सकते हैं, जो कुछ इस प्रकार है :

अभिनवगुप्त अपने प्रथम पूर्वज के रूप में अगस्त्य गोत्र के किन्हीं अत्रिगुप्त का नाम लेते हैं। अत्रिगुप्त मध्यदेश अथवा अन्तर्वेदी (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में रहते थे, और उन्हें कन्नौज के राजा यशोवर्मन् का संरक्षण प्राप्त था।

अत्रिगुप्त अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्होंने सामान्यतः सभी शास्त्रों में, और विशेष रूप से शैव शास्त्र में वैदुष्य प्राप्त किया था। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने उनके वैदुष्य से अत्यन्त प्रभावित होकर उनसे अपने साथ कश्मीर चलने का अनुरोध किया[1]। यशोवर्मन् पर ललितादित्य की विजय का समय लगभग 740 ई. माना गया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि जिस कुल में शैव अभिनवगुप्त ने लगभग दो शताब्दी पश्चात् जन्म लिया, वह आठवीं शती के मध्य में मध्यदेश से कश्मीर में जाकर बसा था।

राजा ललितादित्य ने वितस्ता (झेलम) नदी के किनारे, सितांशुमौलि (शिव) के मंदिर के सामने एक भूखंड पर अत्रिगुप्त के स्थायी निवास के लिए एक सुंदर भवन बनवाने का आदेश दिया और निर्वाह के लिए उन्हें एक बड़ी जागीर प्रदान की गई[2]।

अत्रिगुप्त के अलावा अभिनवगुप्त अपने पितामह वराहगुप्त का उल्लेख करते हैं। उनके कुल में पांडित्य-परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनी रही। ये वराहगुप्त भी श्रेष्ठ विद्वान् थे और भगवान शिव के भक्त थे[3]।

अभिनवगुप्त के पिता नरसिंहगुप्त थे जो चुखुलक के नाम से प्रसिद्ध थे। वे भी शिव के परम भक्त थे। अभिनव की माता का नाम विमलकला था[4]। वे एक

पुण्यात्मा और धर्मपरायण महिला थीं। नरसिंहगुप्त और विमलकला सुखी दम्पती थे। वे गृहस्थ के कर्तव्यों का निर्वाह सांसारिक मोह के कारण नहीं अपितु शास्त्र के विधान के कारण करते थे। परिवार का वातावरण पूर्णतया धार्मिक और वैदुष्यमय था। इन्हीं दम्पती के यहाँ 950 से 960 ई॰ के बीच अभिनवगुप्त का जन्म हुआ (**Abhi.**, पृ॰ 9)।

कश्मीर में यह परम्परागत विश्वास है कि अभिनवगुप्त 'योगिनीभू', अर्थात् योगिनी से उत्पन्न, थे। अभिनवगुप्त के माता-पिता भगवान् शिव के निष्ठावान् भक्त थे। अपने परवर्ती जीवन में अभिनवगुप्त ने शैव योगी की जीवन-पद्धति अपनाने और शैव दर्शन के अपने प्रतिपादन के कारण शैव सम्प्रदायों के आचार्य की पदवी प्राप्त की। शैवों में यह विश्वास प्रचलित है कि केवल योगिनीभू को ही शैवाद्वैत के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है और वही उनका वैदग्ध्यपूर्ण प्रतिपादन कर सकता है। अतः अभिनवगुप्त को योगिनीभू माना जाता है। शैव सिद्धान्तों के अनुसार योगिनीभू पुत्र की प्राप्ति के इच्छुक दम्पती को संगम के समय सभी लौकिक वासनाओं से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। माँ को अपने आप में शक्ति की और पिता को शिव की भावना कर लेनी चाहिए। अभिनवगुप्तकृत **तन्त्रालोक** के टीकाकार जयरथ के अनुसार अभिनव के योगिनीभू होने की प्रचलित धारणा स्वयं अभिनव के प्रामाण्य पर आधारित है क्योंकि, जयरथ की व्याख्या के अनुसार, **तन्त्रालोक** की प्रथम कारिका इस तथ्य का संकेत करती है[5]।

परवर्ती रचनाकारों ने अभिनवगुप्त का 'अभिनवगुप्तपाद' कहकर स्मरण किया है। 'पाद' शब्द का प्रयोग आदर दिखलाने के लिए किया गया है। किन्तु संपूर्ण शब्द यहाँ एक गूढ़ अर्थ का संकेत देता है। 'गुप्तपाद' शब्द का अर्थ सर्प अथवा शेषनाग है। इस प्रकार 'अभिनवगुप्तपाद' का अर्थ होगा : शेष का एक नूतन अवतार। व्याकरणमहाभाष्यकार पतंजलि शेषनाग के अवतार कहे जाते हैं। अभिनवगुप्त व्याकरण में सर्वथा पारंगत थे। उन्होंने अपने पिता चुखुलक से **महाभाष्य** पढ़ा था। व्याकरण में उनकी प्रवीणता उनकी कृतियों से भी पदे-पदे स्पष्ट है। अतः इस शास्त्र में उनके अधिकार को सूचित करने के लिए उन्हें अभिनवगुप्तपाद कहा गया।

पं. वामनाचार्य झलकीकर इस विषय में एक अन्य कथा का उल्लेख करते हैं। अपने बाल्यकाल में ही अभिनव एक पाठशाला में भेजे गये। उनके अध्यापक उनकी बहुमुखी प्रतिभा और तीव्र स्मरण-शक्ति से अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके सहपाठी उनसे ऐसे ही भय खाते थे जैसे सर्प से। अतः अध्यापक उन्हें अभिनव गुप्तपाद कहकर पुकारने लगे। चाहे पहली व्याख्या को सही मानें या दूसरे आख्यान को, इनसे ऐसी धारणा बनती है कि अभिनवगुप्त संभवतः उनका मूल नाम नहीं था अपितु उनके

गुरुओं द्वारा दिया गया था। यह सत्य हो सकता है और ऐसा लगता है कि **तन्त्रालोक** (I. पृ॰ 50) में वे इसी का संकेत कर रहे हैं, जब वे कहते हैं :

"यह उस अभिनवगुप्त की कृति है जिसे गुरुओं (ज्येष्ठ लोगों, अध्यापकों) ने यह नाम दिया था[6]।

यहाँ हमारे लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि शैव अभिनवगुप्त, जिनके बारे में हम अगले पृष्ठों में पढ़ने जा रहे हैं, इसी नाम के उस व्यक्तित्व से भिन्न हैं जिनका उल्लेख माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ **शंकरदिग्विजय** में किया है। वे श्री शंकराचार्य के जीवन की एक घटना के प्रसंग में बतलाते हैं कि अभिनवगुप्त कामरूप (असम) के निवासी थे। वे शाक्त थे और उन्होंने वेदान्तसूत्रों पर **शाक्तभाष्य** लिखा था। दिग्विजय करते हुए शंकराचार्य ने कामरूप पहुँच कर उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित किया। इस विवरण से स्पष्ट है कि ये अभिनवगुप्त उनसे भिन्न व्यक्ति हैं जिनके विषय में हम यहाँ अध्ययन कर रहे हैं। पहली बात तो यह है कि माधवाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित अभिनवगुप्त शाक्त थे और असम के निवासी थे। ये अभिनवगुप्त शंकराचार्य के समकालीन थे जिनका समय 780 ई॰ से 820 ई॰ के बीच है जबकि हमारे शैव अभिनवगुप्त जो कश्मीर के थे, 960 से 1020 ई॰ के बीच हुए। अतः उनके बीच दो शताब्दियों का अन्तराल है। केवल समान नाम के आधार पर दोनों को एक व्यक्ति मान लेना निश्चय ही एक भूल होगी।

अभिनवगुप्त का जन्म ऐसे कुल में हुआ था जहाँ वैदुष्य और शिवभक्ति की एक लम्बी परम्परा थी। उनके जीवन का प्रत्येक दिवस ऐसे वातावरण में बीता जो पाण्डित्य और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत था। माता-पिता के अतिरिक्त उनके परिवार में उनके पितृव्य वामनगुप्त, छोटे भाई मनोरथ और पाँच चचेरे भाई थे। उनके पितृव्य वामनगुप्त विद्वान् और कवि थे। अभिनवगुप्त ने कुछ समय तक उनसे शिक्षा ग्रहण की थी और **नाट्यशास्त्र** पर अपनी प्रसिद्ध टीका में वे वामनगुप्त का एक पद्य उद्धृत करते हैं[7]। अभिनवगुप्त का चचेरा भाई आगे चलकर उनका शिष्य हुआ। संपूर्ण परिवार की अभिरुचि विद्या और भक्ति में थी। अपने कौटुम्बिक वातावरण के विषय में अभिनवगुप्त कहते हैं :

"कुटुम्ब के सभी सदस्यों ने लौकिक संपत्ति को तृणवत् समझा और शिव के ध्यान में ही अपने हृदय को लगाया[8]।"

इस प्रकार समस्त कौटुम्बिक वातावरण एक स्वस्थ मस्तिष्क और अन्तःकरण के विकास के लिए उपयुक्त था जो उस महान् कार्य के लिए नितान्त आवश्यक थे जिसे आगे चलकर अभिनवगुप्त को करना था।

अभिनवगुप्त में विद्या के लिए ऐसी पिपासा थी जो तृप्त होना न जानती थी।

उन्होंने अनेक गुरुओं से अनेक शास्त्र पढ़े और इसके लिए वे कश्मीर से बाहर भी गए। **तन्त्रालोक** (VIII, पृ॰ 205-206) में वे कहते हैं कि भले ही मनुष्य ऐसे गुरु को पाने का सौभाग्य अर्जित कर ले जो स्वयं पूर्णता प्राप्त कर चुका हो और अपने शिष्य को भी सरलता से पूर्णता की ओर ले जा सके, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अन्य शास्त्रों और अन्य मार्गों के ज्ञान के लिए अन्य गुरुओं के पास न जाए। उन्होंने इसकी शिक्षा उपदेश और उदाहरण, दोनों के माध्यम से दी क्योंकि शैव शास्त्रों के सिद्धान्तों और शिक्षाओं से पूर्णतः संतुष्ट होते हुए भी, अपने असीम कुतूहल और अदम्य ज्ञान-पिपासा के कारण, उन्होंने अन्य संप्रदायों, जैसे बौद्ध और जैन संप्रदायों के उपाध्यायों से भी विद्या प्राप्त की[9]।

उनके ग्रन्थों में हमें उनके अध्यापकों और उनसे पढ़े हुए विषयों की निम्नलिखित जानकारी मिलती है।

1. नरसिंहगुप्त (उनके पिता) : व्याकरण
2. वामनाथ : द्वैततन्त्र
3. भूतिराज : ब्रह्मविद्या
4. भूतिराजतनय : द्वैताद्वैत शैवागम
5. लक्ष्मणगुप्त : क्रम और त्रिक दर्शन
6. भट्टेन्दुराज : ध्वन्यालोक
7. भट्ट तौत : नाट्यशास्त्र
8. शम्भुनाथ (जालन्धर के) : कौलागम

अभिनवगुप्त का अपनी माता से गहरा स्नेह था। उनके जीवन का सारा माधुर्य अपनी माँ में ही केन्द्रित था। किन्तु बाल्यकाल में ही मृत्यु के क्रूर हाथों ने माँ को उनसे छीन लिया। निःसंदेह यह उनके जीवन की एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। किन्तु उन्होंने इसे ईश्वर की इच्छा के रूप में देखा जो मनुष्य को उसके द्वारा संपादनीय भावी कार्यों के लिए तैयार करता है। उन्हीं के शब्दों में –

माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव,
दैवो हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति।

(त.आ. XII. पृ॰ 413)

माता की मृत्यु के बाद अभिनवगुप्त के अनुराग का एकमात्र केन्द्र उनके पिता थे। पिता से उनका स्नेह पुत्र और शिष्य, दोनों रूपों में था। किन्तु इसके शीघ्र बाद उनके पिता ने भी सांसारिक जीवन को त्यागकर संन्यास ले लिया। इन घटनाओं ने अभिनव के चित्त को समस्त सांसारिक आसक्तियों से विमुख कर दिया और उन्होंने भगवान् शिव की भक्ति का मार्ग अपना लिया। यह परिवर्तन इतना

दृढ़ था कि उन्होंने कभी विवाह न करने का निश्चय कर लिया (दारासुतप्रभृतिबन्धकथामनाप्तः)। यहाँ से उनके जीवन में एक नया मोड़ आया जिससे लौकिक वाङ्मय और घरेलू जीवन में उनकी रुचि नहीं रह गई। तब से लेकर वे अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की वृद्धि करने वाले आगम-ज्ञान की खोज में एक से दूसरे आचार्य के पास घूमते रहे। आगम-साहित्य के अध्ययन में उनकी आस्था और उसमें उपलब्ध पांडित्य का साक्षी उनका महान् ग्रन्थ **तन्त्रालोक** है।

आगमों का उनका अध्ययन लक्ष्मणगुप्त की देख-रेख में हुआ जिन्होंने अभिनवगुप्त का परिचय क्रम-दर्शन से कराया। अभिनव ने आगम-विद्या की तीनों शाखाओं–क्रम, त्रिक और कुल–का अध्ययन किया था। प्रत्यभिज्ञा दर्शन त्रिक संप्रदाय की एक शाखा मात्र है। यह तथ्य कि उनका **क्रमस्तोत्र** पहले रचा गया था (990 ई॰), हमारे इस अनुमान को जन्म देता है कि अभिनव ने क्रम-दर्शन का अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक साक्षात्कार की दिशा में अपने प्रयोग किये होंगे। निःसंदेह इन प्रयोगों को भारी सफलता भी मिली, किन्तु उतने मात्र से अभिनवगुप्त संतुष्ट न हो सके। इसलिए वे त्रिक-दर्शन और फिर कुल-दर्शन की ओर उन्मुख हुए। अपनी आध्यात्मिक खोज में संपूर्ण परितृप्ति उन्हें केवल कुल-दर्शन से ही प्राप्त हुई। कुल-दर्शन में उनके गुरु जालन्धर पीठ के शम्भुनाथ थे। **तन्त्रालोक** में एक से अधिक स्थलों पर अभिनव अपने गुरु शम्भुनाथ का बड़े आदर से उल्लेख करते हैं। एक स्थल पर वे कहते हैं कि उनका "हृदय-कमल श्री शंभुनाथ-रूपी सूर्य के चरणों (किरणों) के प्रकाश से पूरी तरह विकसित हुआ[10]।"

तन्त्रालोक और **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** जैसे ग्रन्थ लिखने से पूर्व अभिनवगुप्त आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त कर चुके थे। अभिनव के **परमार्थसार** पर योगराज की टीका में इसका उल्लेख हुआ है। योगराज कहते हैं कि अभिनवगुप्त महेश्वर के साथ तादात्म्य की अर्थात् भैरव की अवस्था प्राप्त कर चुके थे[11]। यह वही अवस्था है जो वेदान्त में जीवन्मुक्त के नाम से जानी जाती है। कश्मीर के परम्परानिष्ठ पंडित अभिनवगुप्त को भैरव का अवतार मानते हैं।

इस प्रकार की तैयारी के साथ अभिनवगुप्त ने दर्शन पर अपने प्रमुख ग्रन्थ लिखे जो भारत की दार्शनिक प्रज्ञा और वाङ्मय को उनका बहुमूल्य अवदान हैं। संस्कृत साहित्य के अध्येता उन्हें काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् के रूप में देखते हैं। किन्तु वह तो उनके समग्र कृतित्व का मात्र एक छोटा-सा अंश है। उनका प्रमुख अवदान तो कश्मीर के शिवाद्वय दर्शन को है जिसका उन्हें आचार्य कहा गया है। और यह किसी आरामदेह जगह पर, आरामकुर्सी पर बैठकर मात्र कल्पना से प्रसूत अवदान नहीं है। यह वर्षों तक सतत यौगिक अभ्यास के माध्यम से प्राप्त निजी अनुभवों का दस्तावेज़ है। कभी-कभी वे अध्यात्म-जगत् में अपने अनुभवों

का उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए, **तन्त्रालोक** की विषय-वस्तु को प्रस्तावित करते समय वे कहते हैं :

"भगवान् शिव की आज्ञा से मैं अपने अनुभव, तार्किक युक्ति, और शैव शास्त्र के आधार पर इसे स्पष्ट कर रहा हूँ।"

अथवा, कालतत्त्व पर अपने विवेचन का समापन करते हुए वे कहते हैं :

"आगम, शास्त्र, और अपने निजी अनुभव के आधार पर मैंने इस प्रकार कालतत्त्व का विवेचन किया है[12]।"

उनके मत में, आध्यात्मिक ज्ञान की पूर्णता क्रमशः तीन अवस्थाओं से प्राप्त होती है : गुरुतः, शास्त्रतः, स्वतः; अर्थात् गुरु से, शास्त्र की युक्ति से और स्वानुभव से। अपने निजी अनुभवों के कारण ही अभिनवगुप्त को शिवाद्वय दर्शन का श्रेष्ठतम आचार्य माना जाता है।

योग के अभ्यास के परिणामस्वरूप अभिनवगुप्त में लोकोत्तर शक्तियाँ प्रकट हुईं। **तन्त्रालोक** में शक्तिपात के विषय में बतलाते हुए अभिनव **श्रीपूर्वशास्त्र** से एक उद्धरण देते हैं जहाँ ऐसे योगी में पाए जाने वाले कुछ सुनिश्चित चिह्नों का उल्लेख किया गया है। ये इस प्रकार हैं :

(क) रुद्र में निश्चल भक्ति;

(ख) मन्त्रसिद्धि;

(ग) तत्त्वों पर नियन्त्रण;

(घ) अभीष्ट फलप्राप्ति की सामर्थ्य;

(ङ) अकस्मात् समस्त शास्त्रों के ज्ञान का उदय और कवित्व-शक्ति का स्फुरण।

तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ कहते हैं कि ये सभी शक्तियाँ अभिनवगुप्त में विद्यमान थीं। अपने कथन की पुष्टि में वे अपने गुरु का एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसका अर्थ इस प्रकार है :

"लोगों ने श्रीपूर्वशास्त्र में वर्णित अकस्मात् ज्ञानोदय आदि पाँच चिह्नों को अभिनवगुप्त में स्पष्टतया देखा[13]।"

अभिनवगुप्त में ऐसी असाधारण शक्तियों के अस्तित्व पर शंका करना अनावश्यक है। मराठी संत-कवि ज्ञानेश्वर ने भी अपनी प्रसिद्ध **ज्ञानेश्वरी** में योगियों की इन शक्तियों का वर्णन किया है। स्वयं ज्ञानेश्वर ने अपनी बाल्यावस्था में ही कुण्डलिनी योग के मार्ग से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने केवल सोलह वर्ष की आयु में ही ज्ञानेश्वरी लिखी थी जो भगवद्गीता की सुप्रसिद्ध मराठी व्याख्या

है। गीता 6.43 की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :

"जैसे उषा जगत् को प्रकाशित कर देती है, सूर्योदय की प्रतीक्षा नहीं करती, उसी प्रकार योगी में सर्वज्ञता बाल्यकाल में ही प्रकट हो जाती है। वह बड़ी आयु की प्रतीक्षा नहीं करती। जब वह सिद्ध योगी वाली अन्तर्ज्ञान की शक्ति पा लेता है तो उसका हृदय कवित्व-शक्ति से भर उठता है और शास्त्रों के सभी सत्य उसके ओठों से ऐसे निःसृत होते हैं जैसे गाय के थन से दूध बहता है। बुद्धि के लिए दुर्बोध्य सत्य भी, जो केवल गुरु से ही सीखे जा सकते हैं, उसे अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं[14]।"

अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य मधुराज ने शक्तिपात की उनकी लोकोत्तर सामर्थ्य का उल्लेख किया है। उन्होंने अभिनवगुप्त की स्तुति में **गुरुनाथपरामर्श** नामक एक स्तोत्र लिखा है जिसका समापन वे इन शब्दों में करते हैं :

"मैंने वेद और वेदांगों में कोई परिश्रम नहीं किया। मुझे तर्क का ज्ञान नहीं है, न ही मैंने साधना का अभ्यास किया है। फिर भी मेरे गुरु ने मेरे अज्ञान को इस सीमा तक दूर कर दिया है कि मैं गुरु के उपदेशों को समझ सका और अपने हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण कर सका।" (यह कैसे संभव हुआ ?)

"मुख से बोल कर कुछ पढ़ाये बिना भी सिद्ध गुरु किसी न किसी व्याज से किसी भी प्राणी को, अथवा सभी प्राणियों को, शिवत्व प्रदान करता है[15]।"

यहाँ कवि स्पष्ट संकेत दे रहा है कि उसके गुरु अभिनवगुप्त ने शक्तिपात की सामर्थ्य से उसे आध्यात्मिक साक्षात्कार कराया।

अभिनवगुप्त ने भैरव अथवा जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर ली थी और उस साक्षात्कार के आलोक में ही उन्होंने दर्शन पर अपना लेखन-कार्य किया। **परमार्थद्वादशिका** और **अनुभवनिवेदनम्** नामक अपने दो स्तोत्रों में वे स्वयं इस स्थिति की प्राप्ति का संकेत देते हैं[16]। उनका विशालतम ग्रन्थ **तन्त्रालोक** न केवल समस्त आगमग्रन्थों का सार-संग्रह है अपितु उनके आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश में उस मार्ग के सिद्धान्त, व्यवहार और कर्मकाण्ड का विवरण भी है। अभिनवगुप्त हमें बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने इसकी रचना की :

"इस ग्रन्थ (**तन्त्रालोक**) की रचना के लिये इस प्रकार वत्सलिका (उनकी शिष्या*) के घर में रहते हुए उसने बुद्धि-समाधि की स्थिति में पहुँचकर, अपने गुरुओं से सुने हुए सभी शास्त्रों का स्मरण किया[17]।"

---

* मेरे विचार मे पादटिप्पणी में उद्धृत वाक्यांश 'गृहे वत्सलिकावतीर्णे' का अर्थ 'वत्सलिका के घर में' नहीं है। जैसा लेखक ने आगे स्वयं कहा है (अध्याय दो), अभिनव ने **तन्त्रालोक** की रचना अपनी शिष्या मन्द्र के घर में की। इसलिए पूर्वोक्त वाक्यांश का अर्थ होगा : '(मन्द्र के घर में) जहाँ वत्सलिका भी थीं'। वत्सलिका मन्द्र की चाची थी और अभिनव ने **तन्त्रालोक** मे अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनका उल्लेख किया है। – **अनुवादक**

यह देखते हुए कि वे अन्य ग्रन्थों को व्यापक रूप से इतनी बड़ी संख्या में (लगभग 245) और इतना ठीक-ठीक उद्धृत करते हैं, हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अभिनवगुप्त असाधारण मनीषा से संपन्न थे। यह दैवी शक्ति से ही संभव हुआ होगा। इसीलिए मधुराज योगी अपनी रचना **गुरुनाथपरामर्श** (इसका उल्लेख पहले हो चुका है) में कहते हैं कि अभिनवगुप्त देहधारी शिव थे।

इन्हीं लेखक अर्थात् मधुराज योगी द्वारा रचित एक अन्य पद्य-संग्रह में जो 'ध्यानश्लोकाः' के नाम से प्रसिद्ध है, अभिनव को 'अभिनव दक्षिणामूर्तिदेव' कहा गया है। अद्वैत संप्रदाय के सभी आचार्यों ने अपने स्तोत्रों में दिव्य गुरु दक्षिणामूर्ति की स्तुति की है। श्री शंकराचार्य ने भी एक **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** की रचना की थी। शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित इन दिव्य गुरु की विशेषताओं में एक यह है कि वे मुख से एक भी शब्द बोले बिना अपने शिष्यों के समस्त संशयों को दूर कर देते हैं; अर्थात् वे शक्तिपात से यह कार्य करते हैं जिसकी चर्चा मधुराज ने भी अपने गुरु अभिनवगुप्त के प्रसंग में की है (इससे पूर्व देखें)। गुण और परिमाण की दृष्टि से ऐसी असाधारण साहित्यिक और व्याख्यानात्मक प्रतिभा साधारण मस्तिष्क में नहीं मिल सकती; यह केवल उस आत्मा में ही देखी जा सकती है जो शिव के दिव्य चैतन्य में निमग्न है, या जो, अभिनवगुप्त के शब्दों में, 'रुद्रशक्तिसमाविष्ट' है। यह ऐसी अवस्था है जो पूर्वोल्लिखित लोकोत्तर शक्तियों की अभिव्यंजक है।

शैवाद्वैत के अनेक ग्रन्थों पर विस्तृत विवृतियाँ लिखने के कारण और अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण, अभिनवगुप्त सभी शैव संप्रदायों के आध्यात्मिक प्रमुख के रूप में स्वीकृत हुए। ऐसी एक घटना का उल्लेख अभिनव के साक्षात् शिष्य मधुराज योगी द्वारा लिखित **गुरुनाथपरामर्श** में है जिससे पता चलता है कि महान् अध्यात्मवादियों, सिद्धों और योगिनियों की एक सभा कश्मीर में हुई थी। ये सभी अध्यात्मवादी अभिनव के प्रति बड़ी श्रद्धा और प्रशंसा का भाव रखते थे। अभिनव की प्रामाणिक व्याख्याओं के कारण उन्हें विश्वास हो चुका था कि अभिनव श्रीकण्ठ (भगवान् शिव) के अवतार थे। उन्होंने पाया कि गुरुओं से प्रवाहित समस्त पारम्परिक ज्ञान अभिनव में एकत्र हो गया था। अतः उन्होंने अभिनव को समस्त शैव संप्रदायों–सिद्धान्त, वाम, यामल, भैरव, कुल, त्रिक और एकवीर–का आचार्य स्वीकार किया[१८]। हम यहाँ "ध्यान-श्लोकों" का अनुवाद दे रहे हैं* :

"श्रीकण्ठावतार अभिनव के रूप में कश्मीर आए हुए भगवान् दक्षिणामूर्ति हमारी रक्षा करें। उनके नेत्र आध्यात्मिक आनन्द से घूर्णित हैं। उनके ललाट का मध्य भाग पवित्र भस्म से बने हुए त्रिपुण्ड्र से स्पष्टतः चिह्नित है। उनके कान रुद्राक्ष

* यह अनुवाद डॉ॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अंग्रेज़ी अनुवाद (Abhi. पृ॰ 21) पर आधारित है।

से सुंदर दिखलाई देते हैं। उनके घने केश पुष्पमाला के द्वारा बँधे हुए हैं। उनकी दाढ़ी लम्बी है, शरीर लाल है। कपूर, कस्तूरी, चंदन, केसर आदि के लेप से काली हुई उनकी ग्रीवा भव्य दिखलाई देती है। लम्बा यज्ञोपवीत लटक रहा है। वे चन्द्रकिरणों के समान धवल रेशमी वस्त्र धारण किये हुए हैं और द्राक्षा के उद्यान के मध्य बने हुए स्फटिकमणिमय मंडप में–जो चित्रों के द्वारा सुंदर है, पुष्पों, मालाओं धूप और दीपों के कारण बड़ी मधुर सुगन्ध दे रहा है, चंदन की गन्ध से सुवासित है, गीत, वाद्य और नृत्य से सतत गुंजायमान है और अभिज्ञात आध्यात्मिक शक्तियों वाले सिद्धों और योगिनियों से भरा हुआ है–वे मुक्तावलियों से अलंकृत वितान के नीचे, सुवर्ण की चौकी पर एक कोमल बिछौने पर वीरासन में बैठे हैं। मन को एकाग्र कर उनके चरणों में बैठे हुए और उनके द्वारा कहे गये प्रत्येक शब्द को लिखते हुए क्षेमराज आदि अपने सभी शिष्यों द्वारा वे परिचरित हैं और दो दूतियों द्वारा भी, जो उनके दोनों ओर खड़ी हैं, जिनमें से प्रत्येक शिवरस (तीन रात तक जल में भिगोए हुए अन्न से प्राप्त आसव) से परिपूर्ण पात्र एवं दाएँ हाथ में ताम्बूल से भरी हुई पेटिका और बाएँ हाथ में मातुलिंग (चकोतरा) का फल तथा कमल लिये हुए हैं। रुद्राक्षमाला पहने हुए उनका दाहिना हाथ अपनी जंघा पर रखा है और उनकी अंगुलियाँ परमतत्त्व के साक्षात्कार को सूचित करने वाली मुद्रा (ज्ञानमुद्रा) में हैं। बाएँ कर-कमल के नखों के अग्रभाग से वे वीणा बजा रहे हैं जो नाद (मूल संगीत-ध्वनि) को उत्पन्न करने में समर्थ है।"

इस शब्द-चित्र में भी सिद्धों और योगिनियों की सभा का उल्लेख है क्योंकि यहाँ भी मंडप अभिज्ञात आध्यात्मिक शक्तियों वाले सिद्धों और योगिनियों से भरा हुआ बतलाया गया है।

कश्मीर के पंडितों में, और पुराने मुस्लिम परिवारों में भी, यह परम्परागत विश्वास है कि जब अभिनवगुप्त ने यह अनुभव किया कि उनके अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो गया है तो एक दिन वे अपने शिष्यों के साथ हिमालय की भैरव गुफा (वर्तमान भीरुवा गुफा) में गये। मार्ग में वे भैरवस्तव का उच्चारण कर रहे थे जो उन्होंने पहले अपने साहित्यिक गतिविधि के काल में रचा था। वहाँ अपने शिष्यों को पीछे छोड़कर अभिनवगुप्त उस गुफा में प्रविष्ट हो गये और फिर कभी नहीं लौटे।

दो

कृतित्व

अपनी तीन कृतियों में अभिनवगुप्त उनके रचनाकाल का उल्लेख करते हैं। वे बतलाते हैं कि उन्होंने संवत् 66 में **क्रमस्तोत्र** की और संवत् 68 में **भैरवस्तव** की रचना की। **बृहती-विमर्शिनी** के अंतिम पद्य में वे कहते हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना 90वें वर्ष में की जब कलियुग के 4115 वर्ष बीत चुके थे[1]। यहाँ उल्लिखित 90वें वर्ष का अर्थ है सप्तर्षि संवत् का 4090वाँ वर्ष। इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि **क्रम-स्तोत्र** की रचना सप्तर्षि संवत् 4066 में और **विमर्शिनी** की रचना संवत् 4090 में हुई। इस प्रकार अभिनवगुप्त की साहित्यिक गतिविधि यदि अधिक नही तो कम से कम पचीस वर्ष तक अवश्य रही। ऊपर उल्लिखित सप्तर्षि वर्षों का अर्थ ईसवी सन् के संदर्भ में क्रमशः 990 और 1015 ई॰ है। इस दौरान उन्होंने व्यापक रूप से लिखा और लगभग चालीस रचनाएँ लिखीं। हम नीचे उनकी कृतियों के नाम उनके विषय सहित दे रहे हैं :

(1) **बोधपञ्चदशिका** : यह सोलह पद्यों का एक लघुकाव्य है। पन्द्रह पद्य अद्वैत शैव दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त बतलाते हैं और अन्तिम पद्य रचना का प्रयोजन बतलाता है। इस रचना का उद्देश्य यह था कि उनके शिष्य शैव दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों को समझ सकें।

(2) **मालिनी-विजय-वार्तिकम्** : यह **मालिनी-विजय-तन्त्रम्**, जिसे **श्रीपूर्वशास्त्रम्** भी कहा गया है, के कुछ श्लोकों की व्याख्या है। अभिनवगुप्त ने इसे प्रवरपुर में अपने प्रिय शिष्यों कर्ण और मन्द्र की प्रार्थना पर लिखा था। दुर्भाग्य से संपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रकाशित अंश केवल प्रथम श्लोक की व्याख्या है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अभिनवगुप्त ने कुछ और श्लोकों की व्याख्या भी लिखी थी क्योंकि वे इस पुस्तक के अठारहवें अध्याय की चर्चा करते हैं। उपलब्ध अंश में न्याय-दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की आलोचना मिलती है।

(3) **परात्रिंशिका-विवरण** : यह ग्रन्थ चौंसठ अद्वैत तन्त्रों में से एक, रुद्रयामल तन्त्र, के समापन श्लोकों पर टीका है। इस ग्रन्थ का शीर्षक अलबत्ता भ्रामक है। वास्तविक नाम है **'परात्रीशिका'** जिसका अर्थ है : परा जो तीन शक्तियों, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, की स्वामिनी है। परा को 'परा संविद्' भी कहा गया है जो इन शक्तियों से उच्चतर है और फिर भी इनसे अभिन्न है।

परात्रिंशिका का मूल पाठ शैव अद्वैतियों में बड़ा लोकप्रिय रहा होगा क्योंकि सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त के समय तक अनेक आचार्यों ने इस पर टीकाएँ लिखीं हैं। परात्रिंशिका को त्रिकशास्त्र भी कहा जाता है। मूल ग्रन्थ, जिस पर अभिनव ने विवरण लिखा है, भैरव और भैरवी के बीच संवाद के रूप में है। भैरवी प्रश्न करती हैं कि अनुत्तर नामक वह क्या तत्त्व है जिसके ज्ञान से खेचरी (संसार से मुक्ति) के समान स्थिति को पाया जा सकता है। इस प्रश्न पर भैरव का उत्तर त्रिकदर्शन का आधारभूत है। इस ग्रन्थ के उपसंहार में अभिनव की जीवनी-सम्बन्धी कुछ संदर्भ मिलते हैं।

(4) **तन्त्रालोक** : अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से **तन्त्रालोक** सबसे बड़ा है। यह अद्वैत आगमों के दर्शन और कर्मकाण्ड दोनों ही से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा करता है। यह शैवागमों, मुख्यतः **मालिनीविजयतन्त्र** के परम्परागत व्याख्यान के प्रामाण्य पर और साथ ही ग्रन्थकार के स्वानुभव पर आधारित है और इसलिए सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह सैंतीस आह्निकों में विभाजित है। **तन्त्रालोक** जयरथ की टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। इसमें विवेचित विषय हैं : (क) बन्धन का कारण; (ख) मोक्ष का मार्ग; (ग) विद्या और अविद्या का भेद; (घ) मोक्ष की अवधारणा; (ङ) वस्तु-जगत् की चरमता क्या है; (च) जगत् की अभिव्यक्ति; (छ) बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद; (ज) शैव कर्मकाण्ड; (झ) आत्मवृत्त संबन्धी सूचनाएँ। ग्रन्थ को **तन्त्रालोक** नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि यह पाठक को तन्त्रों द्वारा बताये हुए मार्ग पर आलोक देता है (आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः सुखं संचरिता क्रियासु)। यह ग्रन्थ मनोरथ और अभिनव के चचेरे भाई तथा मन्द्र और अन्य शिवभक्त शिष्यों की प्रार्थना पर प्रवरपुर (वर्तमान श्रीनगर का पूर्वी भाग) में मन्द्र के घर में लिखा गया था।

(5) **तन्त्रसार और** (6) **तन्त्रवटधानिका** : ये दोनों **तन्त्रालोक** के सारांश हैं और इनमें दूसरा पहले की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है।

(7) **ध्वन्यालोकलोचनम्** : यह आनन्दवर्धन के **ध्वन्यालोक** पर अभिनव की प्रसिद्ध टीका है। ध्वनि की अवधारणा की अभिनवकृत व्याख्या को अलंकारशास्त्र के सभी परवर्ती लेखकों ने प्रामाणिक माना है। **ध्वन्यालोक** और उस पर **लोचन** साहित्यशास्त्र के आधार रहे हैं और मम्मट और जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने इन्हें मान्यता दी है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त को उन्होंने अपनी शिक्षण-पुस्तकों के लिए आदर्श माना है।

(8) **अभिनवभारती** : यह भरत के **नाट्यशास्त्र** पर अभिनव की उत्कृष्ट टीका है जिसे **नाट्यवेदविवृति** कहा जाता है। अभिनव की रस-सम्बन्धी धारणा के लिए यह टीका ही स्रोत है। **नाट्यशास्त्र** पर यह एकमात्र उपलब्ध टीका है। यह

नाट्यशास्त्र में विचारित विभिन्न प्रश्नों पर पूर्वाचार्यों के मत और उनका अभिनवकृत परीक्षण प्रस्तुत करती है। एक आधुनिक विद्वान् के लिए यह टीका उन अनेक नाट्यग्रन्थों की जानकारी पाने का स्रोत है जो आज लुप्त हो चुके हैं।

(9) **भगवद्गीतार्थसंग्रह** : यह **भगवद्गीता** पर कोई व्यवस्थित टीका नहीं है अपितु उसकी विषय-वस्तु का सारांश है। चुने हुए श्लोकों पर इसमें विस्तृत व्याख्या दी गई है। यह ग्रन्थ इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह **गीता** को शैव दृष्टिकोण से देखता है। इसमें **गीता** के मानक पाठ की अपेक्षा अधिक श्लोक हैं और अनेक स्थलों पर पाठ भी भिन्न है। **भगवद्गीता** को शैव साहित्य में इसलिए स्थान मिला हुआ है क्योंकि परम्परागत विश्वास के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अद्वैत शैवागम दुर्वासा से और अन्य आगम उपमन्यु से पढ़े थे।

(10) **परमार्थसार** : यह त्रिक दर्शन के मूल सिद्धान्तों का सार है। अभिनव हमें बताते हैं कि यह शेष मुनि, जिन्हें आधार भगवान् या अनन्तनाथ भी कहा जाता है, की आधार-कारिकाओं का रूपान्तरण है।

(11) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** : यह ग्रन्थ उत्पलाचार्य द्वारा अपनी **प्रत्यभिज्ञाकारिका** पर लिखी गयी स्वोपज्ञ विवृति की व्याख्या है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि विवृति का पाठ अभी तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं है यद्यपि, वे कारिकाएँ अभिनव की व्याख्या के साथ उपलब्ध हैं जिन पर स्वयं उत्पल ने विवृति लिखी थी। यह ग्रन्थ **बृहतीविमर्शिनी** के नाम से भी जाना जाता है।

(12) **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** : यह उत्पलदेव की **प्रत्यभिज्ञाकारिका** पर अभिनवगुप्तकृत टीका है। यह टीका **विवृतिविमर्शिनी** की अपेक्षा छोटी है और इसलिए **लघ्वी विमर्शिनी** कहलाती है। इसमें प्रत्यभिज्ञादर्शन का विस्तृत विवेचन है।

बड़ी रचनाएँ लिखने के बाद अभिनवगुप्त ने अल्पबुद्धि छात्रों के लिए उनके सार भी लिखे थे। उनके शिष्य मधुराज ने अभिनव की इस प्रवृत्ति का उल्लेख अपनी कृति **गुरुनाथपरामर्श** (श्लोक 6) में किया है। अभिनव ने पहले **तन्त्रालोक** और फिर उसका संक्षिप्त रूप **तन्त्रसार** लिखा है। यह अभिनव के अपने कथन से स्पष्ट है। इसलिए यह असंभावित नहीं है कि ई॰ 1020 में **विवृतिविमर्शिनी** (**बृहतीविमर्शिनी** के नाम से भी प्रसिद्ध) पूर्ण करने के बाद उन्होंने **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (जो **लघ्वी विमर्शिनी** भी कहलाती है) की रचना की है। हम कह सकते हैं कि अभिनव के समस्त उपलब्ध ग्रन्थों में **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** अन्तिम है।

ये बारह कृतियाँ कश्मीर संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित हो चुकी हैं।

(13) **पर्यन्तपञ्चाशिका** : अभिनवगुप्त की यह कृति सर्वप्रथम डॉ॰ वी॰ राघवन्

द्वारा 1951 में प्रकाशित की गयी थी। यह त्रिकशास्त्र के सिद्धान्तों का सार है जो मुख्यतः कुल-संप्रदाय पर आधारित है। इसमें अभिनवगुप्त ने तत्त्वों की संख्या सैंतीस बतलायी है (न कि छत्तीस, जैसा कि प्रत्यभिज्ञा में है)। सैंतीसवाँ तत्त्व भैरव को बतलाया है जिसे कुल-संप्रदाय में अनुत्तर भी कहा गया है। परतत्त्व के साक्षात्कार के उपाय के संबन्ध में वे साधक को किसी विशेष उपाय का दुराग्रह न रखने की सलाह देते हैं। उनके अनुसार सभी उपाय अन्ततः एक ही सार्वत्रिक तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं और ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं[3]। वे शायद यह कहना चाहते हैं कि उपायों का चुनाव उनका अनुसरण करने वाले व्यक्ति की योग्यता के अनुसार किया जाना चाहिए।

(14) **घटकर्परकुलक - विवृति** : यह बीस श्लोकों के लघुकाव्य **घटकर्परकुलक** पर अभिनवगुप्त की विद्वत्तापूर्ण टीका है। कश्मीर की परम्परा में यह लघुकाव्य कालिदासरचित माना जाता है। अपनी टीका में अभिनवगुप्त कवि-स्वातन्त्र्य का समर्थन करते हैं।

इन चौदह रचनाओं के अतिरिक्त डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय ने **अभिनवगुप्त** नामक अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ के परिशिष्ट में अभिनवगुप्त की नौ लघु रचनाएँ (स्तोत्र) प्रकाशित की हैं। ये इस प्रकार हैं–

(15) **अनुत्तराष्टिका**, (16) **परमार्थद्वादशिका**,
(17) **परमार्थचर्चा**, (18) **महोपदेशविंशतिकम्**,
(19) **क्रमस्तोत्रम्**, (20) **भैरवस्तोत्रम्**,
(21) **देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्**, (22) **अनुभवनिवेदनम्**,
(23) **रहस्यपञ्चदशिका**।

इस प्रकार आज हमें अभिनव की तेईस रचनाएँ मुद्रित रूप में मिलती हैं। इनके अलावा ग्रन्थ-सूचियों में पाण्डुलिपि के रूप में तीन अन्य रचनाओं का उल्लेख है। वे हैं–

(1) **तन्त्रोच्चय**, (2) **बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद**,
(3) **अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनीवृत्ति**।

अभिनवगुप्त की कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं जो संप्रति उपलब्ध नहीं हैं किन्तु जिनकी चर्चा उन्होंने अपनी उपलब्ध कृतियों में की है। वे हैं–

(1) **पुरूरवोविचार**, (2) **क्रमकेलि**,
(3) **शिवदृष्ट्यालोचनम्**, (4) **पूर्वपञ्चिका**,
(5) **पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका**, (6) **प्रकीर्णकविवरण**,
(7) **प्रकरणविवरण**, (8) **काव्यकौतुकविवरण**,

(9) **कथामुखतिलकम्**, (10) **लघ्वी प्रक्रिया**,
(11) **भेदवाद-विदारण**, (12) **देवीस्तोत्र-विवरण**,
(13) **तत्त्वाध्वप्रकाशिका**, (14) **शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्रम्**।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने कुल मिलाकर चालीस रचनाएँ लिखीं। कश्मीर के पंडितों में परम्परा से यह विश्वास भी प्रचलित है कि अभिनवगुप्त ने **योगवासिष्ठ** पर एक टीका लिखी। बहरहाल, वर्तमान में **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** उनकी अन्तिम कृति मानी जाती है। फिलहाल हम यह नहीं कह सकते कि और कितनी रचनाएँ उनकी लेखनी से निकलीं।

इन कृतियों की विषय-वस्तु को देखने से यह स्पष्ट है कि अभिनव ने पाँच रचनाएँ काव्यशास्त्र एवं संस्कृत काव्यों पर लिखीं, ग्यारह स्तोत्र लिखे और उनकी शेष कृतियाँ शैवाद्वैत के दर्शन और अनुष्ठान को लेकर हैं। कुछ स्तोत्र भी दार्शनिक हैं। उनकी कृतियों के कालक्रम को देखें तो पूर्व की कृतियों से तन्त्र के प्रति उनकी रुचि प्रकट होती है। इसके बाद उनकी रुचि काव्य एवं काव्यशास्त्र में रही जिसकी परिणति अन्ततः दार्शनिक कृतियों में हुई। वैसे यह विभाजन एकदम सटीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक संदर्भों से यह प्रतीत होता है कि वे एक साथ एक से अधिक विषयों पर लिखते रहे। उनके लेखन की एक विशेषता यह है कि जैसे वे काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या अपने दार्शनिक चिन्तन के प्रकाश में करते हैं वैसे ही दर्शन को भी काव्य के उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। अनेक स्थलों पर उन्होंने नाटकों से मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति वाले पद्य उद्धृत किये हैं और उनका उपयोग दार्शनिक सूक्ष्मताओं को स्पष्ट करने में किया है जैसा कि **बृहतीविमर्शिनी** में दिखलाई पड़ता है। कश्मीर के शैव मतावलम्बी दर्शन एवं कर्मकाण्ड के विषय में उन्हें अन्तिम प्रमाण मानते हैं। काव्यशास्त्र के अध्येता रस और ध्वनि के विषय में उनके वचनों को निर्णायक मानते हैं और दार्शनिक उन्हें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समर्थ व्याख्याता के रूप में देखते हैं। उनकी कृतियों को एक इकाई के रूप में देखने पर स्पष्ट होगा कि अपने विपुल प्रयत्न में वे जीवन की प्रत्येक गतिविधि का उस समष्टि-चैतन्य के साक्षात्कार के लिए उपयोग करना चाहते थे जो जीवन के प्रत्येक नाम और रूप में अभिव्यक्त होता है; क्योंकि अभिनव के लिए परमशिव विश्वमय भी हैं और विश्वोत्तीर्ण भी।

तीन

अभिनवगुप्त का दर्शन

यद्यपि संस्कृत साहित्य के सामान्य पाठक की रुचि मुख्यतया रस और ध्वनि के अभिनवगुप्तकृत प्रतिपादन में होगी फिर भी हम यहाँ पहले उसे अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों से परिचित कराने का प्रयास कर रहे हैं, इसलिए नहीं कि उन्होंने दर्शन पर अधिक ग्रन्थ लिखे हैं बल्कि इसलिये कि उनके दार्शनिक विचारों की थोड़ी बहुत जानकारी के बिना उनके सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्रपरक चिन्तन को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। **ध्वन्यालोकलोचन** और **अभिनवभारती** के अध्येता भली-भाँति जानते हैं कि प्रायः अभिनवगुप्त के तर्क दर्शन की गहराई में जाते हैं। समावेश, प्रतिविश्रान्ति, चमत्कार, सहृदय, तन्मयीभवन और ऐसे ही अन्य अनेक शब्दों के अभिनव के लिए गहरे अर्थ हैं जिन्हें हम तब तक पूरी तरह नहीं समझ सकते जब तक यह न जान लें कि उन्होंने अपनी दार्शनिक रचनाओं में उनकी व्याख्या किस प्रकार की है। इसलिए हम पहले उनके दर्शन की चर्चा करें।

अभिनव ने जिस दार्शनिक संप्रदाय पर लिखा वह प्रायः प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए, अपने **सर्वदर्शनसंग्रह** में प्रत्यभिज्ञा का सार देने के बाद अन्त में माधवाचार्य कहते हैं– "अभिनवगुप्तादिभिराचार्यैः विहितप्रतानोऽयमर्थः।" यहाँ वे बतला रहे हैं कि उनका सार अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के विस्तृत प्रतिपादनों पर आधारित है। किन्तु दर्शन पर अभिनवगुप्त के समग्र लेखन से यह स्पष्ट है कि उनका दर्शन प्रत्यभिज्ञा, क्रम और कुल संप्रदायों का समन्वय है। इसलिए हम इसे शैवाद्वैत या शिवाद्वय दर्शन कह सकते हैं। **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, **प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी**, **तन्त्रालोक** और **परात्रिंशिकाविवरण** उनके मुख्य दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिनसे हम अभिनव के दार्शनिक विचारों को समझ सकते हैं। इनमें से प्रथम दो उनके प्रत्यभिज्ञा-विषयक प्रतिपादन हैं, **परात्रिंशिका** में उनका कौलिक चिन्तन है और **तन्त्रालोक** में क्रम के साथ-साथ इन दोनों का समन्वय है।

(क) अभिनव के दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यह अच्छा होगा कि हम अभिनव के लेखन की दार्शनिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जान लें। शैव दर्शन एवं धर्म का मुख्य स्रोत आगम है। वेदों की भाँति आगम भी नित्य माने जाते हैं। परम्परागत शैव विश्वास के अनुसार वे किसी विशेष

समय पर उत्पन्न नहीं हुए थे। अभिनव ने आगमों की नित्यता की चर्चा की है और इस धारणा का एक दार्शनिक स्पष्टीकरण दिया है। सृष्टि अभिव्यक्ति-स्वरूप है। यह दो प्रकार की है। पहली वाक्-रूपा अथवा वाचकात्मिका है और दूसरी अर्थरूपा या वाच्यात्मिका है। दोनों में मूलभूत संबन्ध है। वाक् भी दो प्रकार की है : दैवी और मानुषी। शैवागम दिव्य वाक् हैं और इसलिए वे परमविमर्श को अभिव्यक्त करते हैं जो मानुषी वाक् द्वारा अभिव्यक्त मानवीय विमर्श से भिन्न है। परावाक् के रूप में वाक् की नित्य सत्ता है। आगम दिव्य वाक् हैं और परावाक् के साथ तादात्म्य-संबन्ध में स्थित होने के कारण उनकी नित्य सत्ता है। इसलिए शैवागम उत्पन्न कभी नहीं होते। आगमों का, दैवी इच्छा के अनुसार, केवल आविर्भाव और पुनराविर्भाव होता है।

आगम तीन प्रकार के हैं– (क) द्वैत आगम, (ख) द्वैताद्वैत आगम, और (ग) अद्वैत आगम। परम्परा ऐसा मानती है कि इन आगमों की संख्या करोड़ों में है। किन्तु कलियुग के आरम्भ के साथ-साथ इन आगमों के ज्ञाता ऋषिगण लुप्त हो गये और आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धकार छा गया। एक बार भगवान् श्रीकण्ठ (शिव) कैलास पर्वत पर भ्रमण कर रहे थे। वे लोगों के अज्ञान के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले दुःख को देखकर करुणा से द्रवित हो गये। उन्होंने ऋषि दुर्वासा को आगमों के उपदेश का उद्धार करने और उन्हें लोगों के बीच फैलाने का निर्देश दिया। ऋषि दुर्वासा ने समस्त आगम-विद्या को तीन भागों में बाँटा : द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत, और इनका ज्ञान क्रमशः श्रीनाथ, आमर्दक और त्र्यम्बक नामक अपने मानसपुत्रों को दिया। इस प्रकार ये तीन तान्त्रिक संप्रदाय अस्तित्व में आये जो अपने प्रवर्तकों के नाम से जाने गये। एक चौथे संप्रदाय का भी उद्‌भव हुआ जिसका नाम अर्ध-त्र्यम्बक पड़ा क्योंकि इसके प्रवर्तक त्र्यम्बक की पुत्री के पक्ष से उनके वंशज थे।

यहाँ हमारा सरोकार त्र्यम्बक द्वारा प्रवर्तित अद्वैत तन्त्र से है। सोमानन्द की **शिवदृष्टि** के अन्तिम अध्याय में अद्वैत तन्त्र के इतिहास का थोड़ा सा वर्णन मिलता हैं इससे ज्ञात होता है कि **शिवदृष्टि** के रचयिता सोमानन्द त्र्यम्बक के उन्नीसवें वंशज थे।

सोमानन्द त्र्यम्बक के पहले चौदह वंशजों के नाम नहीं देते। वे मात्र इतना कहते हैं कि ये चौदह वंशज सिद्ध थे। किन्तु पन्द्रहवीं पीढ़ी से आरम्भ करके वे नाम देते हैं। क्रमानुसार यह वंशावली इस प्रकार है :–

(15) संगमादित्य,
(16) वर्षादित्य,
(17) अरुणादित्य,

(18) औनन्द, और

(19) सोमानन्द।

संगमादित्य के बारे में वे बतलाते हैं कि उन्होंने एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया, भ्रमण करते हुए कश्मीर आये और वहीं बस गये[1]।

सोमानन्द अभिनव के प्रपितामह-गुरु थे। अभिनव का समय 950 से 1025 ई॰ के बीच है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सोमानन्द उनसे एक शताब्दी पूर्व, अर्थात् लगभग 850 ई. में हुए। भट्ट कल्लट भी, जो अवन्तिवर्मा के शासनकाल में हुए, भट्टेन्दुराज के सम्बन्ध से अभिनव के प्रपितामह-गुरु थे। अतः हम कह सकते हैं कि सोमानन्द और कल्लट समकालीन थे और दोनों का ही समय लगभग 850 ई॰ था और संगमादित्य सोमानन्द से लगभग एक शताब्दी पूर्व या और पहले, अर्थात् 750 ई॰ तक कश्मीर में बस चुके थे।

राजा ललितादित्य अत्रिगुप्त को लगभग 740 ई॰ में कन्नौज से कश्मीर लाये थे। संगमादित्य और अत्रिगुप्त दोनों ही शैव विद्वान् थे और व्यवहारतः एक ही समय में कश्मीर में बसने के लिये आये। महान् वेदान्ती शंकराचार्य, जो 780 से 820 ई॰ के बीच हुए, कश्मीर आये थे और वहाँ समादृत हुए थे। लगभग 825-850 ई॰ तक बसुगुप्त शिवसूत्र की खोज कर चुके थे जो शैवाद्वैत की स्पन्द शाखा का प्रमुख ग्रन्थ है। वसुगुप्त के पुत्र एवं शिष्य कल्लट ने स्पन्द दर्शन पर लिखा; उनके समकालिक सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा पर **शिवदृष्टि** नामक ग्रन्थ लिखा और उनके पुत्र एवं शिष्य उत्पल ने लगभग 900 ई॰ के आसपास **प्रत्यभिज्ञाकारिका** की रचना की। इस प्रकार कश्मीर में शैवाद्वैत के क्षेत्र में 750 से 900 ई॰ तक का समय सृजनात्मक गतिविधि से पूर्ण दिखलाई देता है और यह तथ्य भी कि राजा ललितादित्य कन्नौज से अत्रिगुप्त को कश्मीर में स्थायी रूप से बसने का अनुरोध करके लाये थे, यह दर्शाता है कि संभवतः कश्मीर के राजा लोग भी इस गतिविधि में रुचि रखते थे।

अपने काव्य **शंकरदिग्विजय** (अध्याय 16,54-80) में माधवाचार्य बतलाते हैं कि शेष भारत में बौद्ध धर्म को आखिरी धक्का देकर शंकराचार्य कश्मीर पहुँचे। वहाँ अद्वैतवाद के श्रेष्ठतम आचार्य के रूप में उन्हें भारी सम्मान मिला। यह कथन तथ्य प्रतीत होता है क्योंकि हमें कश्मीर में शंकराचार्य का मन्दिर भी मिलता है। दूसरे, वैदिक दर्शन का शंकराचार्यकृत अद्वैतवादी व्याख्यान और शैवाद्वैतवाद अपनी शब्दावली और प्रक्रिया-सबन्धी कुछ ब्यौरों में भेद के बावजूद निष्कर्ष में एक-से हैं। शंकराचार्य के तान्त्रिक दर्शन और कश्मीर के त्रिक अद्वैतवाद में इतना साम्य है कि शंकर और कश्मीर के अद्वैतवादी आचार्यों के बीच संपर्क को माने बिना इसे ठीक प्रकार से व्याख्यात नहीं किया जा सकता। अद्वैतवादी तन्त्रों में शंकराचार्य

का विश्वास एवं अधिकार था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं। उनका **सौन्दर्यलहरी** नामक स्तोत्र इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। वहाँ वे चौंसठ तन्त्रों का उल्लेख करते हैं (चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनम्)। कुछ शंकर पीठों में श्रीचक्र की पूजा भी कश्मीर में प्रचलित तान्त्रिक क्रियाओं के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि को प्रमाणित करती है। और, शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य की टीका के प्रकाश में जब हम उनके **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि न केवल चरम सत्ता की उनकी अवधारणा वही है जो प्रत्यभिज्ञा की है, बल्कि इस स्तोत्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली भी वही है। इसलिये हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि शंकर ने अवश्य कश्मीर के दर्शन में अद्वैतवादी गतिविधि को प्रेरणा दी होगी जिसके लिए उस प्रदेश में स्वीकृत और अनुसृत पारम्परिक आगम-साहित्य की आधारभूमि विद्यमान थी।

इस प्रकार कश्मीर में शैवाद्वैत की दार्शनिक अवधारणा की स्थापना और विकास के लिए वह उपयुक्त समय था। इस दिशा में प्रथम ग्रन्थ वसुगुप्त का **शिवसूत्र** था जो शंकर की यात्रा के शीघ्र बाद प्रकाश में आया।

वसुगुप्त का रचना-काल 825 से 850 ई० के बीच पड़ता है। उनके शिवसूत्रों में हमें अद्वैतवादी तन्त्रों की दार्शनिक धारणाओं की क्रमबद्ध प्रस्तुति मिलती है। यह संभवतः सूत्र-शैली का पहला ग्रन्थ है जो शैवाद्वैत के दर्शन और आचार को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही जैसे बादरायण का **ब्रह्मसूत्र** उपनिषद्-दर्शन को क्रमबद्ध रूप में रखता है।

शिवसूत्र और **स्पन्दकारिका** अद्वैत शैव दर्शन की स्पन्द शाखा के प्रमुख ग्रन्थ हैं। वे मुक्ति के तीन पारम्परिक मार्गों – शांभव, शाक्त और आणव–को दिखलाते हैं। वसुगुप्त के शिष्य कल्लट, **राजतरंगिणी** से प्राप्त सूचना के अनुसार, अवन्तिवर्मा (855-883 ई.) के शासन काल में हुए। उन्होंने वसुगुप्त की **स्पन्दकारिका** पर **स्पन्दसंदोह** नामक व्याख्या लिखी* और **स्पन्दसूत्र** नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की। शिवदृष्टिकार सोमानन्द कल्लट के समकालीन थे। उन्होंने **शिवदृष्टि** में शैव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा शाखा का आरम्भ किया। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी अद्वैतवादी शैव तन्त्रों पर आधारित था। विश्व और उसके कारण की दार्शनिक अवधारणाओं एवं जीव और परमसत्ता के स्वरूप के विषय में स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा के मत समान हैं। किन्तु जहाँ स्पन्द पूर्वोल्लिखित तीन मार्ग बतलाता है और एक हद तक मतवादी दृष्टिकोण रखता है, वहीं **शिवदृष्टि** में चौथा अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का मार्ग दिखलाया गया है जो नवीन और सरलतर है। इसीलिए **शिवदृष्टि** में अद्वैत शैव दर्शन को

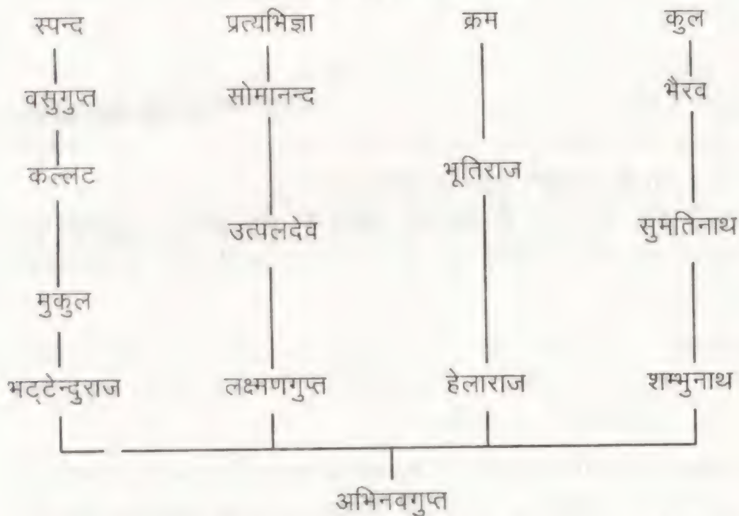
* कान्तिचन्द्र पांडेय (Abhi., पृ० 157, पृ०204) कल्लट की टीका का नाम **स्पन्दसर्वस्व** बतलाते हैं। **स्पन्दसंदोह** क्षेमराज की टीका का नाम है। – अनुवादक

मात्र मतवादी वक्तव्य के रूप में नहीं अपितु तर्कसंगत क्रमबद्ध दार्शनिक वक्तव्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है।

सोमानन्द के पुत्र एवं शिष्य उत्पलदेव (875-925 ई०) ने **प्रत्यभिज्ञाकारिका** लिखी। उन्होंने इन कारिकाओं पर विवृति भी लिखी। आगे चलकर अभिनव ने इन कारिकाओं पर **लघ्वीविमर्शिनी** और **बृहतीविमर्शिनी** लिखी। **प्रत्यभिज्ञाकारिका** कश्मीर शैव दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया।

उत्पलदेव के पुत्र और शिष्य लक्ष्मणगुप्त ने अभिनव को प्रत्यभिज्ञा और क्रम शाखाओं में दीक्षित किया। लक्ष्मणगुप्त के अलावा, अभिनव ने भूतिराज और उनके पुत्र हेलाराज से भी शिक्षा प्राप्त की थी जो संभवतः क्रमदर्शन के आचार्य थे। अर्धत्र्यम्बक संप्रदाय द्वारा प्रवर्तित कुलमार्ग में अभिनव के गुरु जालन्धर पीठ के शम्भुनाथ थे। शैव दर्शन की विभिन्न शाखाओं की परम्पराएँ, जो अभिनवगुप्त ने प्राप्त की थीं, नीचे एक सारिणी की सहायता से देखी जा सकती हैं।

अद्वैत शैव दर्शन की शाखाएँ



अद्वैत शैव दर्शन की ये सभी शाखाएँ परमतत्त्व की अवधारणा के विषय में एकमत हैं किन्तु उस परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए उन्होंने अलग-अलग मार्ग बतलाए हैं। अभिनवगुप्त ने इन सभी मार्गों का अध्ययन और अभ्यास किया था और इसलिए इन्हें समन्वित करके एक सर्वस्वीकृत दर्शन का रूप देने के लिए वे उपयुक्त व्यक्ति थे। उन्होंने यह कार्य अपने प्रसिद्ध संग्रहात्मक ग्रन्थ **तन्त्रालोक** में किया है जो शास्त्र, युक्ति और अनुभव पर आधारित वक्तव्य था और जिससे उन्हें सभी संप्रदायों

के आचार्य के रूप में स्वीकृत होने का सम्मान प्राप्त हुआ।

(ख) अद्वैत शैव दर्शन

प्रत्यभिज्ञा साहित्य से हमें शैव संप्रदाय के दर्शन की जानकारी सुगमता से मिल सकती है। सिद्धान्त और आचार, दोनों ही में शैव दर्शन किसी जातिगत प्रतिबन्ध के बिना सभी के लिए खुला है (नात्र जात्याद्यपेक्षा काचित्–**ई.प्र.वि.**, 2.276)। ज्ञान और मुक्ति की जिसे तीव्र इच्छा है, वह शैव संप्रदाय का अध्ययन और पालन करने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु अपने जीवन में शैव धर्म का पालन करके मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति में और शैव दर्शन का उसकी तमाम जटिलताओं के साथ अध्ययन करने के इच्छुक व्यक्ति में भेद है। शैव आचार के किसी सामान्य अनुयायी के लिए मात्र दृढ़ निश्चय पर्याप्त है। किन्तु शैव दर्शन में रुचि रखने वाले व्यक्ति के मामले में केवल निश्चय से काम नहीं चल सकता। उसके लिए वेद, वेदांग, षड्दर्शन, व्याकरण और तर्क का ज्ञान आवश्यक है। तभी वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तर्कों की सूक्ष्मताओं को समझने और उनका विवेचन करने में समर्थ हो सकेगा[२]।

सामान्यतः भारतीय दर्शन के सभी संप्रदायों, और विशेषतः प्रत्यभिज्ञा, का उद्देश्य है साधक को आत्म-साक्षात्कार में सहायता करना और इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय बताना, अर्थात् यह, कि अज्ञान के आवरण को भंग करके हम इस लक्ष्य को पा सकते हैं। भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय मानते हैं कि अज्ञान बन्धन का कारण है और मात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। शैव दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण मल है जो आणव मल, कार्म मल और मायीय मल के भेद से तीन प्रकार का है।

आणव मल : यह सहजात अज्ञान है। यह संपूर्णता की हानि और उसके फलस्वरूप आत्मा द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप के विस्मरण में निहित है। यह मात्र अपूर्णम्मन्यता है। यह अनादि है किन्तु उच्छेद्य है।

कार्म मल : यह अनियत इच्छारूप है। आणव मल अनियत और असीम कामना का निमित्त है। यह एक शक्य इच्छा है जिसका अपने आप में कोई नियत विषय नहीं है। किन्तु जब यह कार्य-रूप लेती है तो यह मायाजनित वस्तुओं के साथ आत्मा के अगणित संसर्गों को उत्पन्न करती है।

मायीय मल : यह मनःशारीरिक सीमा है। पूर्वोक्त दो मलों के कारण आत्मा का संबन्ध जिन ऐसी वस्तुओं से होता है जो उसकी मनःशारीरिक सामर्थ्य को सीमित करती हैं उन सबको पारिभाषिक शब्दावली में मायीय मल कहते हैं। इसके अन्तर्गत व्यष्टि प्रमाता को सीमित करने वाले पाँच तत्त्व–कला, विद्या, राग, नियति और

काल–और महान् से पृथ्वी तक के पैंतीस तत्त्व आते हैं जिनकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। इसका अर्थ है : सीमित ज्ञान। यह सीमित ज्ञान चिदात्मा और विश्व, दोनों ही के विषय में भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न करता है। शैव दर्शन के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के साथ ही ऐसा ज्ञान उदित होता है जिसमें विश्व की एक नई व्याख्या और समझ विद्यमान है। इसलिए इस दर्शन में आत्म-साक्षात्कार का अर्थ अपने को पहचानना (प्रत्यभिज्ञा) है।

प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है : पहचान। इस पहचान का स्वरूप क्या है ? हम इसे एक उदाहरण से समझने का प्रयास करेंगे। दर्शन के ग्रन्थों में इसे उदाहृत करने के लिए यह वाक्य लिया जाता है : "यह वही देवदत्त है जिसे मैंने तब देखा था (सोऽयं देवदत्तः)।" यह अनुभव का कथन है। इस अनुभव का क्या स्वरूप है ? इसमें देवदत्त का प्रत्यक्ष हो रहा है। किन्तु यह मात्र प्रत्यक्ष नहीं है। यह प्रत्यक्ष मेरे द्वारा पहले देखे गये पदार्थ के अनुभव की मानस बिम्ब के रूप में स्मृति का सक्रिय कारण बनता है। किन्तु यह मात्र स्मृति नहीं है। यहाँ इन दोनों पदार्थों के अभिन्न होने का अनुभव भी है। प्रत्यभिज्ञा की विलक्षणता न तो मात्र प्रत्यक्ष में है न ही मात्र स्मृति में, अपितु दोनों के एकत्व के बोध में है। जब इस एकत्व का बोध हो जाता है तो हम एक सर्वथा अपूर्व अनुभव प्राप्त करते हैं।

प्रत्यभिज्ञा के इस उदाहरण मे मानस बिम्ब प्रत्यभिज्ञा के विषय के पूर्वघटित प्रत्यक्ष का परिणाम था। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मानस बिम्ब पूर्व-प्रत्यक्ष का ही परिणाम हो। पदार्थ का वर्णन सुनने से भी मानस बिम्ब बन सकता है। उदाहरण के लिए, दमयन्ती ने अपने पिता के दरबार में आने वाले चारणों से नल का वर्णन सुना था। नल के गुणों को सुनने से उसके मानस में, अस्पष्ट ही सही, नल का एक बिम्ब बन गया और वह उसके प्रेम का विषय बन गया। आगे चलकर, इन्द्र के दूत के रूप में नल उसके पास आया। उसने उसे अपने प्रेमी नल के रूप में नहीं पहचाना अपितु इन्द्र का दूत ही समझा। किन्तु जब बातचीत के अन्त में उसने जाना कि वह दूत स्वयं निषधराज नल ही था, तो नल का मानस बिम्ब, जो उसके प्रेम का विषय था, उसके सम्मुख खड़े पुरुष के साथ एकाकार हो गया। इस प्रसंग में नल का मानस बिम्ब नल के पूर्व-प्रत्यक्ष का परिणाम नहीं था अपितु केवल उसके गुणों का वर्णन सुनकर बना था। वह मानस बिम्ब उसके प्रेम का भाजन था और यद्यपि स्वयं नल साक्षात् उसके संमुख खड़ा था तथापि, उसके मानस बिम्ब का उस व्यक्ति से अभेद होने तक, वह मात्र एक अजनबी था। अतः मानस बिम्ब और वर्तमान प्रत्यक्ष के यथार्थ विषय के अभेद का अनुभव प्रत्यभिज्ञा में प्रमुख तत्त्व है।

इसी प्रकार यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं तथापि उस अभेद से अभिज्ञ हुए बिना हम अभेद के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। हमें इस विषय में अभिज्ञ बनाना ही प्रत्यभिज्ञा का प्रयोजन है।

साधक के प्रसंग में, प्रत्यभिज्ञा के लिए आवश्यक गुणों का निर्देश किसी प्रामाणिक व्यक्ति, अर्थात् गुरु द्वारा किया जाता है। शिष्य को प्रवृत्त कर और दिव्य पथ पर उसका मार्गदर्शन कर गुरु यह कार्य करता है। यह प्रवर्तना, उपदेश और मार्ग-दर्शन शैव दर्शन में 'दीक्षा' शब्द द्वारा जाना जाता है। दीक्षा, जैसा प्रायः मान लिया जाता है, शिष्य के कान में कोई मन्त्र सुना देना भर नहीं है। यह एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया जाता है और अज्ञान के बन्धन का नाश किया जाता है। दीक्षा शैव संप्रदाय में अनुसृत परम्परागत मार्ग है। लेकिन प्रत्यभिज्ञा के अनुसार दीक्षा मोक्ष के लिए अपरिहार्य नहीं है। जिस प्रकार गुरु का शब्द प्रत्यभिज्ञा की ओर प्रेरित करता है, उसी प्रकार यदि प्रत्यभिज्ञा का विषय अपना कोई निर्भ्रान्त लक्षण प्रकट करे तब भी प्रत्यभिज्ञा संभव है। ऐसे प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा को प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है। प्रातिभ ज्ञान दीक्षा के बिना भी आत्म-साक्षात्कार करा देता है।

वास्तव में आत्म-साक्षात्कार दैवी कृपा का विषय है, जिसे शक्तिपात के नाम से जाना जाता है। दीक्षा के प्रसंग में शक्तिपात गुरु के माध्यम से होता है किन्तु यह गुरु के बिना, सीधे भी, हो सकता है और तब इसे निरपेक्ष शक्तिपात कहा जाता है। (**त॰आ॰**, VIII. 173)।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि आत्मा ही ज्ञाता और कर्ता है। दर्शन हमें बताता है कि मनुष्य का आत्मा विश्वात्मा अथवा महेश्वर से अभिन्न है। हमें ज्ञान और क्रिया की उस विश्व-शक्ति का बोध नहीं होता जो हमारे ही भीतर है। इसका कारण एक सहज अज्ञान है जो आत्मा की वास्तविक शक्तियों के ज्ञान में बाधा है। जब तक हमें उनका ज्ञान न कराया जाए, हम आत्मा के स्वरूप को कभी नहीं पहचान सकेंगे और उसका बोध नहीं कर सकेंगे। प्रत्यभिज्ञा इसलिए आवश्यक है कि हमें ज्ञान और क्रिया की शक्ति की प्रतीति हो सके। दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ने से प्राप्त हमारा ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है। यह आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है। बौद्धिक ज्ञान केवल आत्मा की सार्वत्रिक शक्ति की जानकारी दे सकता है। मोक्ष के लिए इतना पर्याप्त नहीं। मुक्ति तो हमें केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही दे सकता है। हमारे भीतर इन शक्तियों की अभिज्ञा हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व को इतना बदल सकती है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हो जाए। परमानन्द की ओर से जाने वाली विश्व की यह नवीन और विलक्षण व्याख्या प्रत्यभिज्ञा का परिणाम है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा आत्मा के संदर्भ में हमारी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की सीमा को

समाप्त करती है और आत्मा को हमारे संमुख विश्वरूप में प्रकट करती है जिसकी पहचान हमें आनन्द और परितृप्ति की ओर ले जाती है[3]।

आभासवाद

प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय का प्रयोजन है 'ज्ञेय' के 'क्या' 'क्यों' और 'कहाँ से' की व्याख्या करना। प्रत्येक दर्शन की सफलता इस पर निर्भर है कि वह कहाँ तक अनुभव के तथ्यों के आधार पर इन प्रश्नों की संतोषजनक रीति से व्याख्या कर पाता है। अभिनवगुप्त सर्वप्रथम अनुभव के तथ्यों को और फिर तार्किक युक्तियों और आगम के समर्थन को अपने दार्शनिक विचारों का आधार बनाते हैं (देखें अध्याय एक, टिप्पणी 12)।

परतत्त्व के साथ संबन्ध की दृष्टि से अनुभवलोक का क्या स्वरूप है ? न्यायदर्शन के अनुसार हमारे अनुभव का जगत् ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर मात्र कर्ता है जो अणु जैसे उपादान से इस जगत् को उत्पन्न करता है। सांख्यमत में यह जगत् प्रकृति का परिणाम है। विज्ञानवादी का कहना है कि यह सर्वथा आत्मनिष्ठ अनुभव है और कुछ वेदान्तियों का मानना है कि यह केवल एक भ्रान्ति है, वैसे ही जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति। अभिनव इनमें से किसी भी व्याख्या को अन्तिम व्याख्या के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे अनुभव के जगत् को वास्तविक मानते हैं क्योंकि वह सर्वाभिव्यापक समष्टि-चैतन्य अथवा आत्मा की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति स्वरूपतः वैसी ही है जैसे योगी की सृष्टि उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति है। किन्तु यह आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त कुछ नहीं है और इसकी सत्ता आत्मा में ही है ठीक वैसे ही जैसे हमारे अपने भावों की सत्ता हमारे भीतर ही है। यह व्याख्या आभासवाद के नाम से जानी जाती है जिसे डॉ. पांडेय ने यथार्थवादी प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) कहा है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन इस आभासवाद का ही प्रतिपादन है और बतलाता है कि किस प्रकार अनुभव का जगत् विश्वात्मा, जिसे महेश्वर का नाम दिया गया है, की अभिव्यक्ति है।

आभास क्या है ? डॉ. पांडेय इसकी व्याख्या निम्नलिखित रीति से करते हैं :

"वह सब जो दिखलाई देता है; वह सब जो प्रत्यक्ष या चिन्तन् का विषय है; वह सब जो हमारी बाह्य इन्द्रियों अथवा अन्तर्मन की पहुँच में आता है; वह सब जिसके विषय में हम उस समय भी सचेत हैं जब हमारी इन्द्रियाँ और मन कार्य करना बन्द कर देते हैं, जैसे समाधि में या गहरी निद्रा में; वह सब जिसके विषय में मानव चेतना, सीमित होने के कारण, सामान्यतः अभिज्ञ नहीं हो सकती और जो इस कारण केवल आत्म-साक्षात्कार का ही विषय है ; संक्षेप में, जो कुछ भी है अर्थात् जो कुछ भी किसी भी रूप में सत्तावान् कहा जा सकता है और जिसके

बारे में किसी भी प्रकार की भाषा का प्रयोग संभव है, चाहे वह प्रमाता हो या प्रमेय, ज्ञान का साधन हो या स्वयं ज्ञान ही, वह सब आभास है।" (Abhi., पृ॰ 320)

अभिनव के शब्दों में :

"ईश्वरस्वभाव आत्मा प्रकाशते तावत्, तत्र चास्य स्वातन्त्र्यमिति न केनचिद्वपुषा न प्रकाशते तत्र अप्रकाशात्मनापि प्रकाशते प्रकाशात्मनापि। (ई॰प्र॰वि॰,-I. पृ॰ 35, 36)

द्वैतवादी के समक्ष ज्ञान की व्याख्या करने की समस्या है। ज्ञाता-रूप आत्मा और ज्ञेय-रूप अनात्म जगत् ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा कटे हुए हैं; प्रकाश और अन्धकार की भाँति विरुद्ध धर्म वाले होने के कारण ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते। इसलिए आभासवाद सर्वाभिव्यापक समष्टि-चैतन्य अथवा आत्मा का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। ज्ञान के तथ्य की व्याख्या के लिए आवश्यक यह सर्वाभिव्यापक समष्टि-चैतन्य अनुत्तर (परतत्त्व अथवा परासंविद्) कहलाता है। अनुत्तर का अर्थ है : 'जिससे परे और कुछ नहीं है' (न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवचनरूपं यत्र – प॰त्रि॰वि॰, 19)। अनुत्तर को 'यह' अथवा 'वह' के रूप में, या 'यह नहीं' अथवा 'वह नहीं' के रूप में नहीं बतलाया जा सकता। यह सब कुछ है लेकिन उस अर्थ में नहीं जिसमें सीमित मानव-बुद्धि 'सब' को ग्रहण करती है। मन इसे ग्रहण नहीं कर सकता। यह प्रत्यक्ष का या चिन्तन का विषय नहीं बन सकता। इसका केवल साक्षात्कार किया जा सकता है। यह शब्द या शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता[4]। हम जिस किसी भी विधि से इसे परिभाषित करने का प्रयास करें, हमारा प्रयास उन चार अन्धे मनुष्यों की भाँति होगा जिनमें से प्रत्येक ने हाथी के केवल एक-एक अंग को छूकर उसके अलग-अलग अंगों के विषय में अपनी प्रतीति के आधार पर उसे मेज, झाड़ू का डंडा, खंभा अथवा सूप जैसी कोई वस्तु बतलाया था। परम सत्ता का चिन्तन करने वाले सभी लोगों के द्वारा किये गये इसके वर्णन आंशिक रूप में ही ठीक हैं। वस्तुतः सीमायुक्त बुद्धि की इसके विषय में जो कल्पना हो सकती है, परम सत्ता उससे कहीं अधिक है। एकत्व और बहुत्व, काल और दिक्, एवं नाम और रूप की धारणाएँ उन कुछ प्रकारों और रूपों पर आधारित हैं जिनमें चरम सत्ता अभिव्यक्त होती है। अनित्य जगत् उस अभिव्यक्ति का मात्र एक नगण्य अंश है। यहाँ एक रोचक बात यह है कि 'अनुत्तर' की अवधारणा उपनिषद् में प्रतिपादित शुद्ध ब्रह्म की अवधारणा से पूर्णतया मेल खाती है। उदाहरण के लिए, तवल्कारोपनिषद् (केनोपनिषद्) I. 3 से तुलना करें–

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।"

[आँख वहाँ नहीं पहुँचती, न वाणी; न ही मन जाता है। हम नहीं जानते, हम वास्तव में नहीं जानते कि कैसे इसका उपदेश किया जाए। यह विदित से सर्वथा अन्य है और अविदित से भी भिन्न है।]

इस प्रकार परतत्त्व विचार और भाषा की पहुँच के परे है। फिर भी आभासवाद शब्दों के माध्यम से इसकी एक धारणा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है और अभिनव के अनुसार यह सत्य को यथासंभव सर्वोत्कृष्ट रीति से व्याख्यात करता है।

आभासवाद के अनुसार चरम सत्ता के दो पक्ष हैं, विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय[5]। इनमें दूसरा पक्ष प्रकाश-विमर्श-मय है। किन्तु 'प्रकाश' और 'विमर्श', इन दो शब्दों के अर्थ क्या हैं ?

प्रकाश और विमर्श

ब्रह्माण्ड की धारणा पिण्ड के अध्ययन पर आधारित है। इसलिए पहले हम 'प्रकाश' और 'विमर्श' शब्दों के प्रयोग को जीवात्मा के संदर्भ में देखेंगे और फिर यह देखने का प्रयास करेंगे कि विश्वात्मा के प्रसंग में उनका क्या अर्थ है। प्रकाश और विमर्श शब्द जीवात्मा के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रकाश की धारणा बहुत कुछ दर्पण के जैसी है। बाह्य पदार्थ अपने प्रतिबिम्ब दर्पण में संक्रान्त कर देते हैं और दर्पण उनको अपने आपसे अभिन्न दिखलाते हुए भी अपनी निर्मलता अथवा स्वतन्त्र सत्ता को नहीं खोता। इसी प्रकार जीवात्मा भी बाह्य (जैसा प्रत्यक्ष के समय होता है), अथवा संस्कार जैसे आन्तर (जैसा कल्पना अथवा स्वप्न में होता है) उत्प्रेरकों से उत्पन्न होने वाले मानसिक बिम्बों का अधिष्ठान है। वस्तुतः ये बिम्ब जीवात्मा के अपने प्रकार या रूप ही हैं। वैसे दर्पण और जीवात्मा के प्रकाश पक्ष में भेद है। दर्पण को अपने आपको प्रकाशित करने के लिए बाह्य प्रकाश की आवश्यकता होती है (अन्धकार में रखा दर्पण किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता)। किन्तु आत्मा किसी बाह्य प्रकाश से निरपेक्ष स्वतः प्रकाशित होता है और प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए किसी प्रदीपक पर निर्भर नहीं है। संस्कार अपने आधार से सारतः अभिन्न हैं। प्रतिबिम्ब भी अपने आधार से सारतः अभिन्न है। मानसिक बिम्ब प्रतिबिम्ब-स्वरूप होने के कारण सारतः प्रकाश से अभिन्न माने गये हैं। यही मानसिक बिम्ब एक प्रकार के आवरण में रहते हुए संस्कार कहलाते हैं। अतः संस्कार प्रकाश से अभिन्न है।

किन्तु प्रकाश वाला यह पक्ष जीवात्मा का विशेषक पक्ष नहीं है क्योंकि यह तो दर्पण, स्फटिक और मणि में भी पाया जाता है। यदि जीवात्मा मात्र प्रकाशमय होता तो यह प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ अन्य किसी पदार्थ से बेहतर न होता। विमर्श शब्द आत्मा के उस विशेषक पक्ष की ओर संकेत करता है जो इसे प्रकाश

वाले अन्य पदार्थों से अलग करता है[6]। आत्मा के इस विशेषक पक्ष, अर्थात् विमर्श, का अर्थ है :

– सभी प्रकार के प्रभावों से पूर्ण मुक्ति की स्थिति में अपने आपको पूर्ण शुद्धता में जानने की आत्मा की सामर्थ्य;

– आन्तरिक और बाह्य कारणों से उत्पन्न विभिन्न प्रभावों की सभी स्थितियों का विश्लेषण;

– इन प्रभावों का संस्कारों के रूप में संचय;

– संस्कारों के विद्यमान भंडार से इच्छानुसार कुछ भी प्राप्त कर अपनी पुरानी प्रभावित दशा को उत्पन्न कर सकना, जैसा स्मृति के मामले में होता है;

– जैसा स्वतन्त्र कल्पना के समय होता है, विद्यमान भंडार से विवेकपूर्ण चयन करते हुए सर्वथा नूतन आत्मप्रभाव की एक नई अवस्था का सर्जन और इस प्रकार चयनित सामग्री को इसके प्रकाश-पक्ष की आधारभूमि पर प्रदर्शित करना।

इस सबकी और इससे कहीं अधिक की आत्मा की सामर्थ्य विमर्श है और यह आत्मा को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ अन्य पदार्थों से अलग दिखलाती है। जब हम जीवात्मा को प्रकाश-विमर्शमय कहते हैं तो इसका अर्थ यह है कि यह स्वतः प्रकाशित है, संस्कारों को अपने भीतर धारण करता है और प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में, अपने आपको और दूसरों को जानने में, अपने भीतर समाहित पदार्थों के नियन्त्रण में, और अपने साथ सारतः अभिन्न संस्कारों द्वारा एक नए मानसिक आयाम को उत्पन्न करने में समर्थ है।

अब हम देखेंगे कि विश्वात्मा के संदर्भ में 'प्रकाश-विमर्शमय' शब्द का क्या अर्थ है। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार विश्वात्मा अपने आपको आधारभूमि बनाकर उस पर अपने भीतर स्थित विश्व को प्रकट करता है (सा स्वात्मभित्तौ विश्वचित्रमुन्मीलयति)। अभिव्यक्त विश्व की आत्मा से भिन्नता केवल प्रतीति में है, वैसी ही जैसी प्रतिबिम्ब की दर्पण से है :

निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिलतादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः।।

(त॰आ॰, II. 4)

यह अपने मूल स्वरूप में सर्वथा व्यक्ति की सीमित अभिव्यक्ति की भाँति है जैसा स्वप्न में या स्मरण, कल्पना अथवा योगी की सृष्टि में होता है। स्वप्न अथवा कल्पना की अभिव्यक्ति का आधार जीवात्मा का प्रकाश वाला पक्ष अर्थात् बुद्धि है। इसलिए जीवात्मा की भाँति विश्वात्मा के संदर्भ में भी 'प्रकाश' शब्द का प्रयोग

उचित है क्योंकि दोनों ही प्रकाशित होते हैं। दोनों प्रतिबिम्ब के ग्रहण में, प्रभावक के साथ तदात्म होकर प्रकाशित होने में और उसे अपने साथ एकाकार करने में समर्थ हैं। फिर भी व्यष्टि प्रकाश और समष्टि प्रकाश के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद है। व्यष्टि प्रकाश का प्रभाव न केवल स्वप्न और कल्पना आदि जैसे आन्तरिक कारणों से, अपितु प्रत्यक्ष जैसे बाह्य कारणों से भी संभव होता है। किन्तु विश्वात्मा तो विश्वमय और सर्वव्यापक है, अतः इससे बाह्य कुछ हो ही नहीं सकता और इस प्रकार बाह्य कारणों से इसके प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अभिव्यक्ति एक व्यवस्थित क्रिया है और उसके लिए अपने भीतर के विद्यमान संग्रह से चयन करने की आवश्यकता होती है। इसलिए अभिव्यक्ति की क्रिया में ज्ञान, इच्छा, आत्म-चेतना अथवा आनन्द का होना पूर्वनिश्चित है। बिना आनन्द के इच्छा संभव नहीं, बिना इच्छा के ज्ञान संभव नहीं और जब तक वस्तु का और उसकी प्राप्ति के उपायों का ज्ञान न हो तब तक उसके लिए कोई सुव्यवस्थित क्रिया भी नहीं हो सकती। इसलिए, विश्वात्मा के संदर्भ में, विमर्श का अर्थ वह शक्ति है जो चैतन्य या आनन्द, एवं इच्छा, ज्ञान और क्रिया को क्रमशः उत्पन्न करती है।

विश्वात्मा का यही विमर्श स्वातन्त्र्य कहा गया है क्योंकि यह अन्य किसी पर निर्भर नहीं है। विश्वात्मा को इस दर्शन में महेश्वर कहा गया है और महेश्वर की सभी शक्तियाँ विमर्श में समाविष्ट हैं[7]। उत्पलदेव की एक कारिका इस प्रकार है :

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।

(ई.प्र.वि., I. 204)

इस प्रकार परतत्त्व के संदर्भ में, प्रकाश अन्तर्यामी परतत्त्व का वह पक्ष कहा जा सकता है जो समग्र अभिव्यक्ति के आधार-रूप में स्थित है और विमर्श शब्द उस पक्ष के लिए प्रयुक्त होता है जिसे हम अभिव्यक्ति की शक्ति कहते हैं। यह शक्ति आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया को उत्पन्न करती है जिन्हें विमर्श के विभिन्न पक्ष कहा जा सकता है।

अभिव्यक्ति का आधार प्रकाश है और अभिव्यक्ति की शक्ति विमर्श है। किन्तु अभिव्यक्त अथवा अभिव्यंग्य का स्वरूप क्या है ? क्या वह प्रकाश और विमर्श दोनों से भिन्न है और इस प्रकार परतत्त्व से पृथक् है। शैवाद्वैत का उत्तर है कि अभिव्यंग्य, और इसलिए अभिव्यक्त भी, प्रकाश-स्वरूप है (प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिध्यति)। इस दर्शन के अनुसार व्यक्त जगत् परमशिव द्वारा ठीक उसी प्रकार उत्पन्न किया जाता है जिस प्रकार व्यक्ति का मन स्वप्न अथवा कल्पना के पदार्थों

को उत्पन्न करता है। परमशिव और जगत् के बीच वही संबन्ध है जो स्वप्नदर्शी या कल्पना करने वाले आत्मा और स्वप्न या कल्पना के पदार्थों के बीच होता है। स्वप्न या कल्पना के पदार्थ स्वप्नद्रष्टा या कल्पना करने वाले आत्मा के प्रकाश पक्ष से सारतः अभिन्न हैं। अब, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के संबन्ध के आधार पर शैव का मानना है कि अभिव्यंग्य और अभिव्यक्त सारतः प्रकाश ही हैं; अर्थात् जो बात जीवात्मा के संदर्भ में सत्य है वह विश्वात्मा के संदर्भ में भी उतनी ही सत्य है क्योंकि दोनों अभिन्न हैं (यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे)। आत्मा चित्-स्वरूप ही है।

आभास (अभिव्यक्त जगत्) का विश्वचैतन्य से क्या संबन्ध है ? यदि हम कल्पना की अपनी चेतना का विश्लेषण करें तो इस संबन्ध को भली-भाँति समझा जा सकता है। कल्पना के विषय में हम दो तत्त्व पाते हैं : प्रमातृनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। कल्पना करने वाला चैतन्य (प्रमातृनिष्ठ पक्ष) बिम्बों (वस्तुनिष्ठ पक्ष) के उदय के लिए उत्तरदायी है। यही चैतन्य बिम्बों की आधारभूमि भी है और उन्हें ग्रहण करने वाला भी। स्वयं बिम्बों का चैतन्य के अलावा कोई आधार नहीं है। इन बिम्बों के कारण आन्तरिक हैं। ये कारण चैतन्य को प्रभावित करते हैं। यह आवश्यक है कि प्रभावित करने वाले इन कारणों की उत्पत्ति एक निश्चित क्रम में हो, न कि अनियत रूप में, न ही सबकी एक साथ। इसलिए उन्हें किसी स्वतन्त्र शक्ति के नियन्त्रण में रहना होगा। यह देखना कठिन नहीं है कि यह नियामक शक्ति स्वयं चैतन्य (आत्मा अथवा चित्) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अब, ये कारण किसी बाह्य सहायता से निरपेक्ष हमारे संकल्प के अनुसार हमारी चेतना से उत्पन्न होते हैं। वे हमारे चैतन्य की आधारभूमि पर दिखलाई देते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। यह प्रक्रिया सागर में लहरों के उठने और विलीन होने जैसी है। जिस प्रकार अपने प्रादुर्भाव से पूर्व लहरों की सत्ता सागर में है, उसी प्रकार की स्थिति बिम्बों की भी है। कल्पना के समय चैतन्य की शुद्धता को प्रभावित करने वाले बिम्ब प्रकाश-पक्ष की आधारभूमि पर दिखलाई देने से पूर्व आत्मा (चैतन्य) में ही रहते हैं। विश्वात्मा और आभास के संबन्ध के विषय में अभिनवगुप्त ठीक यही बात कहते हैं। उनके शब्दों में : तत्त्वान्तराणि षट्त्रिंशत् अनाश्रितशिवपर्यन्तानि परभैरवानुप्रवेशासादिततथाभावसिद्धानि (प॰त्रि॰वि॰, पृ॰ 19)। इस प्रकार शैव दर्शन के अनुसार शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त जो कुछ भी सत्तावान् है, वह परमतत्त्व में उसी प्रकार स्थित है जैसे आत्मा की शुद्ध अवस्था में हमारे सभी प्रत्यय हमारे ही भीतर रहते हैं। सभी कुछ बाह्य कारणों से निरपेक्ष, इच्छानुसार बाहर अवभासित होता है। अतः इस सब को आभास कहा जाता है। इसे आभास कहने का कारण यह है कि यह विश्वात्मा द्वारा प्रकट किया जाता है (आभास्यते), और इसलिए भी कि यह अभिव्यक्त है (आभासते)।

किन्तु आत्मा इन आभासों को क्यों प्रकट करता है ? यह प्रश्न, अभिनवगुप्त की दृष्टि में असंगत है। यह एक बेतुका प्रश्न है कि अग्नि क्यों जलती है। जलना आग की प्रकृति है। इसी प्रकार अन्तःस्थित का बाह्यावभासन आत्मा की प्रकृति है। वस्तुतः यही आत्मा को अनात्म से पृथक् करता है। उदाहरण के लिए, एक घड़ा बाह्य कारणों से निरपेक्ष होकर स्वयं को परिवर्तित नहीं कर सकता। किन्तु आत्मा ऐसा कर सकता है और करता है :

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदात्यक्ष्यद् घटादिवत्[8]।।

अब दो प्रश्न स्वभावतः ही हमारे मन में उठते हैं। वे इस प्रकार हैं :

(1) यदि चरम सत्ता सभी गोचर पदार्थों में अवभासित होती है तो इसे परिवर्तनयुक्त मानना होगा। फिर हम इसे नित्य कैसे कह सकते हैं ?

(2) यदि सारे आभास चरम सत्ता के भीतर स्थित हैं तो इसे एक कैसे कहा जा सकता है ?

इन प्रश्नों पर शैव दार्शनिक के उत्तर को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

प्रथम प्रश्न के विषय में शैव का कहना है कि परिवर्तन चार प्रकार से होता है : आगम, अपाय, परिणाम और विकार। पहले दो, अर्थात् आगम और अपाय में, मूल पदार्थ में कुछ तत्त्वों का जुड़ना या नष्ट होना परिवर्तन का कारण है। उदाहरण के लिए, लम्बे अन्तराल के बाद किसी स्थान पर जाने पर हम उसे बदला हुआ पाते हैं क्योंकि वहाँ नये घर बन गए हैं। यह परिवर्तन आगम के कारण है। अपाय के कारण होने वाले परिवर्तन में भी यही होता है, जैसे उस समय, जब हम पाते हैं कि पुराने घर भूमिसात् हो गए हैं। दूध का दही में बदल जाना परिणाम का उदाहरण है। चौथा प्रकार विकार है जैसे उस परिवर्तन में जहाँ मिट्टी घड़े का या सोना आभूषण का आकार ले लेते हैं। परिवर्तन के इन चार प्रकारों में, प्रथम तीन को अपने मूल रूप में प्रत्यावर्तित नहीं किया जा सकता। किन्तु चौथे प्रकार में, परिवर्तित वस्तु का मूल रूप फिर से पाया जा सकता है। दही को फिर से दूध के रूप में नहीं लाया जा सकता किन्तु आभूषण फिर से स्वर्णपिंड की अपनी मौलिक स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यह स्पष्ट है कि परिवर्तन के प्रथम तीन प्रकारों में, पदार्थ के विद्यमान घटकों में कुछ वृद्धि या हानि होती है, या फिर उसके गुण में ऐसा परिवर्तन होता है जिसे लौटाया नहीं जा सकता, जैसा दही के मामले में होता है। किन्तु चौथे प्रकार में मूल वस्तु के घटकों के विन्यास मात्र में परिवर्तन होता है। यह केवल आकारगत परिवर्तन है, वस्तुगत नहीं। शैव

धारणा के अनुसार सर्वोच्च सत्ता विश्व को अपने भीतर समेटे हुए है (अन्तःकृतानन्तविश्वरूपः)। अभिव्यक्ति की अवस्था में पदार्थों के असीमित भंडार में से कुछ पदार्थ इच्छानुसार इससे पृथक् रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह बहुत कुछ हमारी स्वप्नावस्था या कल्पनावस्था की भाँति है जिसमें हम अपने आपमें से अपने कुछ प्रत्ययों को पदार्थ के रूप में प्रकट करते हैं या प्रक्षेपित करते हैं। आभास महेश्वर के भीतर ही हैं, वैसे ही जैसे लहरें समुद्र में। और जैसे लहरों के कारण समुद्र में न कुछ आता है न उसमें से कुछ जाता है, उसी प्रकार आभास के प्रकट होने से विश्वचैतन्य में कोई मूलभूत लाभ या हानि नहीं होती। इसलिए परमतत्त्व में होने वाला परिवर्तन, यदि हम इसे परिवर्तन ही कहना पसन्द करें तो, प्रतीति में ही है उसके सार में नहीं।

दूसरे प्रश्न के विषय में अद्वैतवादी का कहना है : केवल वही सत् कहला सकता है जो अन्य-निरपेक्ष रूप में अस्तित्ववान् है[९]। सभी आभास परतत्त्व की आधारभूमि पर प्रकाशित होते हैं, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब। अतः उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व वाला नहीं कहा जा सकता। इस दर्शन का मानना है कि वास्तविक सत्ता केवल अनुत्तर की है। आभास तो मात्र अनित्य प्रतीतियाँ हैं। इसीलिए यह दर्शन अद्वैतवादी माना जाता है।

किन्तु क्या ये आभास सत्य हैं ? शैव अद्वैती से यह प्रश्न करने से पूर्व हमें अपने आप से पूछना चाहिए कि 'सत्य' से हमारा तात्पर्य क्या है। आकाश-पुष्प सत्य नहीं है। क्यों ? क्योंकि इसकी सत्ता नहीं है। क्या भ्रान्ति अथवा स्वप्न सत्य है ? मेरे लिए इसकी सत्ता है क्योंकि मैंने इसे अनुभव किया है और इसलिए मैं इसे नकार नहीं सकता। किन्तु फिर भी मुझे कहना होगा कि यह सत्य नहीं है क्योंकि व्यावहारिक जीवन (जाग्रत् अवस्था) में इसकी वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं है। अतः जब हम किसी वस्तु को असत्य कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। हमारे कहने का अर्थ यही है कि यह एक व्यक्तिगत प्रमातृनिष्ठ अभिव्यक्ति है और इसलिए यह वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति से, जिस पर हमारे सभी लौकिक व्यवहार अवलम्बित हैं, भिन्न प्रकार की है।

इस दर्शन में 'आभास' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। जो कुछ भी किसी भी प्रकार और किसी भी रूप में दिखाई देता है यह उस सबका वाचक है। इसलिए 'क्या आभास सत्य हैं ?' इस प्रश्न में यदि सत्य का अर्थ सत्तावान् है, अर्थात् यदि हम आभास की सत्तात्मकता के बारे में प्रश्न कर रहे हैं, तो शैव अद्वैती का उत्तर 'हाँ' में होगा। किन्तु यदि हमारे प्रश्न का तात्पर्य यह है कि आभास की सत्ता प्रमातृनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ ? तो इसका उत्तर यह है कि वह भेद शुद्ध रूप से रूढ़िगत है और मात्र व्यावहारिक प्रयोजनों से कल्पित है। इसलिए यह

भेद उसी प्रकार का है जैसा एक स्वप्न के पदार्थों का उस स्वप्न के भीतर दूसरे स्वप्न के पदार्थों से होता है (मायापदं हि सर्वं भ्रान्तिः, तत्रापि स्वप्ने स्वप्न इव गण्डे स्फोट इव अपरेयं भ्रान्तिः)। कई बार स्वप्न देखते समय हम उसी स्वप्न में अनुभव करते हैं कि हम एक (अन्य) स्वप्न देख रहे हैं। इस अनुभव में हम छोटे स्वप्न और बड़े स्वप्न के पदार्थों में भेद करते हैं और छोटे स्वप्न के पदार्थों को प्रमातृनिष्ठ और बड़े स्वप्न के पदार्थों को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। जब हम स्वप्न और जाग्रत् अवस्था (व्यावहारिक जीवन) के पदार्थों में भेद करते हैं, तब भी यही होता है। इसलिए 'आभास की सत्ता प्रमातृनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ', ऐसे प्रश्न की आभासवाद में कोई प्रासंगिकता नहीं क्योंकि दोनों ही स्थितियों में आभास की सारभूत प्रकृति एक ही है और इसलिए यदि एक को सत्य कहा जाता है, तो दूसरा भी सत्य है। दर्शन, और विशेषतः शैव दर्शन, का उद्देश्य इस बात की सामान्य रूप में व्याख्या करना है कि आत्मा में संज्ञानात्मक परिवर्तन होता ही क्यों है। और वह क्या है जो इस प्रकार के परिवर्तन को उत्पन्न करता है।

महेश्वर और उसकी शक्तियाँ

सर्वाभिव्यापक विश्वात्मा की एक अवस्था वह है जिसमें आभासों की सत्ता आत्मा से व्यतिरिक्त रूप में है और फिर भी वे आत्मा में वैसे ही रहते हैं जैसे एकत्व की अवस्था में थे। यह अवस्था उस स्थिति की भाँति है जब कोई गम्भीर व्याख्यान देने से पूर्व हमारे विचार हमारे भीतर समाहित होते हैं। सर्वाभिव्यापक विश्वात्मा की इस अवस्था को शैवों की पारिभाषिक शब्दावली में 'महेश्वर' कहा गया है। महेश्वर अनादि है, और अनन्त भी, क्योंकि जगत् भी ऐसा ही है। यह सर्वशक्तिमान्[10] है और अपनी शक्तियों के उपयोग में पूर्णतया स्वतन्त्र है[11]। जो कुछ भी सत्तावान् और प्रकाश्य है उस सबको यह अपने भीतर समेटे रहता है। यह समस्त वस्तुनिष्ठ सृष्टि का शाश्वत आश्रय है। महेश्वर से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो सकता जैसे प्रतिबिम्ब का अस्तित्व दर्पण से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में नहीं हो सकता। यह देश, काल और आकृति की सीमाओं से परे है। यह स्वतःप्रकाश सत्ता है और अग्निशिखा से विकीर्ण होती हुई रश्मियों की भाँति सभी अभिव्यक्तियाँ इससे संबद्ध हैं। यह सर्वथा स्वतन्त्र है और अपने कार्य को संपादित करने के लिए इसे किसी बाह्य उपादान अथवा कारण की आवश्यकता नहीं होती। इसे प्रकाश कहा गया है और प्रकाश के सभी स्रोतों का यह चरम स्रोत है[12]।

यह विश्वचैतन्य शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ है। इसके संदर्भ में किसी भी प्रकार की वस्तुनिष्ठता का कथन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह तो समस्त विश्व

का ज्ञाता है और (विश्व-) ज्ञाता के संदर्भ में किसी अन्य ज्ञाता की परिकल्पना नहीं की जा सकती (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्)। इसकी सत्ता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि अस्वीकार की क्रिया में किसी चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। व्यष्टि आत्माएँ तो मात्र विश्व-चैतन्य की अभिव्यक्तियाँ हैं और उनकी ज्ञान-क्रियाएँ पूर्णतया इसी पर निर्भर हैं। असंख्य शरीरों के माध्यम से देखने और जानने वाला यही विश्व-चैतन्य है। जब सभी बाह्य पदार्थों का ज्ञान और अस्तित्व इसी पर निर्भर है तो विश्वात्मा सिद्धि या प्रत्याख्यान का विषय हो ही नहीं सकता। जैसा उत्पलाचार्य कहते हैं :

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।।

(ई॰प्र॰वि॰, I. 29)

महेश्वर या विश्वचैतन्य अपने आपको शक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। ये शक्तियाँ हैं : कर्तृत्वशक्ति और ज्ञातृत्वशक्ति। शैव दर्शन शक्ति और शक्तिमान् में अभेद मानता है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः)। पुनः, पूर्वोल्लिखित दोनों शक्तियाँ भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही शक्ति के दो पहलू हैं जिसे विमर्श-शक्ति या स्वातन्त्र्यशक्ति के नाम से जाना जाता है। शक्ति और शक्तिमान् का एवं कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का भेद केवल रूढ़िगत है और विवेचन एवं समझने के लिए ही उसका कथन किया जाता है[13]।

अभिव्यक्ति बाह्य और आन्तर, दो प्रकार की है। इन दो प्रकार की अभिव्यक्तियों का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लें कि विश्वात्मा एक सागर की भाँति है और विविध आभास उसकी धाराएँ हैं। प्रत्येक आभास विश्वात्मा के सागर में प्रवहमान एक पृथक् धारा है। ये धाराएँ सृष्टि की अवस्था के दौरान सागर की सतह के नीचे बहती रहती हैं। विश्वात्मा की स्वातन्त्र्यशक्ति का वह पहलू, जो आभासों की आन्तरिक पृथक् अभिव्यक्ति को उत्पन्न करता है, कर्तृत्वशक्ति अर्थात् विभुत्व के नाम से जाना जाता है। किन्तु यदा-कदा ये धाराएँ तरंगों के रूप में सतह के ऊपर आ जाती हैं और स्थिति ऐसी बन जाती है कि जो तरंग प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य है, उसे प्रतिबिम्ब डालने वाली तरंगों द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। यह सर्वज्ञता अथवा ज्ञातृत्वशक्ति का कार्य है। प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाली तरंग का यह प्रभावित होना वह घटना है जिसे ज्ञान कहते हैं (Abhi., पृ॰ 344)।

ज्ञातृत्वशक्ति के तीन पहलू हैं : (1) ज्ञानशक्ति, (2) स्मृतिशक्ति, (3) अपोहनशक्ति।

ज्ञानशक्ति विश्वचैतन्य की शक्ति का वह पहलू है जिसके द्वारा यह अपने भीतर विलीन असीमित पदार्थराशि में से केवल कुछ ही वस्तुओं को पृथक् रूप में अभिव्यक्त करने के लिए निकालता है (स्वरूपादुन्मग्नमाभासयति–**ई.प्र.वि.**)। इस स्थिति में प्रमाता भी वस्तु की भाँति ही एक अभिव्यक्ति है और दोनों ही आभासों या अभिव्यक्तियों की एक निश्चित संख्या के क्षणिक संघात हैं। इसलिए ज्ञान का घटित होना विश्वचैतन्य के सागर में दो तरंगों के उदय की भाँति है। इनमें से एक में नैर्मल्य, अर्थात् प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है और इसे 'जीवाभास' (सीमित चेतन अभिव्यक्ति) कहते हैं जबकि दूसरी, जिसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता नहीं है, जडाभास (अचेतन अभिव्यक्ति) कहलाती है। जब चेतन अभिव्यक्ति का उदय इसके साथ ही साथ उठने वाली अचेतन अभिव्यक्ति द्वारा प्रभावित होता है, वैसे ही जैसे दर्पण अपने संमुख रखे पदार्थों से प्रभावित होता है, तो ज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार ज्ञान चैतन्य की प्रभावित चेतन अभिव्यक्ति मात्र है किन्तु ज्ञानशक्ति विश्वचैतन्य की वह शक्ति है जो ज्ञान के लिए आवश्यक दोनों तरंगों के उदय के लिए उत्तरदायी है[14]।

किन्तु यदि चेतन और अचेतन आभास क्षणिक हैं तो ज्ञान भी क्षणिक होना चाहिए। फिर लौकिक व्यवहार में लिये गए निर्णयों का क्या स्पष्टीकरण होगा ? आभासवादी का कहना है कि इसके पीछे ज्ञातृत्वशक्ति का दूसरा पहलू है जिसका नाम स्मृति है। स्मृति विश्वचैतन्य की शक्ति का वह पहलू है जिसके द्वारा वह अपने आपको ऐसे जीवात्मा के रूप में अभिव्यक्त करता है जो अनुभव के समय ग्रहण किए हुए बाह्य उत्प्रेरकों के प्रभावों को सुरक्षित रख सकता है और बाद में किसी सदृश वस्तु के अनुभव के समय उन्हें पुनरुज्जीवित भी कर सकता है जिससे वर्तमान और भूतकालिक अनुभवों का एकीकरण संभव हो सके। वस्तुतः चेतन तरंग प्रकाश की एक क्षणिक तरंग की भाँति है जो एक स्थायी स्रोत से उद्भूत होती है। किसी वस्तुविशेष के प्रति किसी तरंग को प्रेषित करने और उससे एक विशेष प्रकार के उत्प्रेरक की उपलब्धि करने की धारणा को अवचेतन अवस्था में सुरक्षित रखने वाला यही स्रोत है[15]।

किन्तु अनुभव और स्मृति दोनों ही में हम ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को पूर्वतः मान कर चलते हैं जो न केवल विश्व-चैतन्य से अपितु एक दूसरे से भी पृथक् होंगे। इसकी व्याख्या के लिए प्रत्यभिज्ञा में ज्ञातृत्वशक्ति के तीसरे पहलू को परिकल्पित किया गया है जिसे अपोहनशक्ति का नाम दिया गया है। ज्ञातृत्वशक्ति का यही पहलू प्रमातृनिष्ठ (जीव) या वस्तुनिष्ठ (जड), प्रत्येक आभास को विश्व चैतन्य से और साथ ही एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् रूप में अभिव्यक्त करता है, यद्यपि ऐसी अभिव्यक्ति के समय भी वे अपने उभय-सामान्य आश्रय से अभिन्न हैं[16]।

इस प्रकार, यही शक्ति संकुचित आत्मा के परिच्छिन्न ज्ञान की कारण है। विश्वचैतन्य की इन तीन शक्तियों को **भगवद्गीता** में भी स्वीकार किया गया है (मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च–15.15)।

जैसा पहले कहा जा चुका है, महेश्वर की कर्तृत्वशक्ति स्वातन्त्र्यशक्ति का वह पहलू है जो आन्तरिक परिमित अभिव्यक्ति के असंख्य भेदों का कारण है। ज्ञातृत्वशक्ति इन भेदों को उद्घाटित करती है और ये दो प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं। पहले प्रकार में अनेक आकृतियों की समकालिक अभिव्यक्ति होती है जबकि इन आकृतियों में प्रत्येक आकृति स्पष्टतः अन्यों से भिन्न है। उदाहरण के लिए, जब हम वृक्षों और लताओं से युक्त कोई भूप्रदेश देखते हैं तो हमारे सामने एक ऐसा दृश्य है जिसमें अनेक विविध वस्तुएँ एक इकाई के रूप में, एक काल में गृहीत होती हैं। यह मूर्ति-वैचित्र्य (आकृति-वैविध्य) के कारण होने वाला देशक्रमाभास है। दूसरे प्रकार में बड़ी संख्या में रूपों की क्रमिक अभिव्यक्ति होती है जो एक-दूसरे के इतने सदृश हैं कि वे एक ही वस्तु के अनेक रूपों के तौर पर पहचाने जाते हैं। ऐसा तब भी होता है जब हम किसी मनुष्य को चलते हुए देखते हैं। यह क्रियावैचित्र्य के कारण होने वाला कालक्रमाभास है।

महेश्वर की कर्तृत्वशक्ति के दो पहलू हैं : क्रियाशक्ति और कालशक्ति। क्रियाशक्ति केवल अत्यन्त सदृश आकृतियों की एक सुदीर्घ शृंखला की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति इतने अविलम्बित क्रम में होती है कि एक नैरन्तर्ययुक्त दृष्टि को जन्म देती है। उदाहरण के लिए, हम नाटक में क्रोध का प्रदर्शन करने वाले अभिनेता को ले सकते हैं। वह अपने बालों को नोचते हुए, दाँत पीसते हुए, झटके से झपटते हुए और अचानक रुकते हुए दिखलाई देता है। यह देखा जा सकता है कि क्रुद्ध होने की इस क्रिया में अनेक आभास हैं जिनके एक साथ संयुक्त होने से एक अभिनेता के संदर्भ में क्रुद्ध होने की एक क्रिया बनती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि क्रियाशक्ति कर्तृत्वशक्ति का वह पहलू है जो ज्ञानशक्ति द्वारा बहिर्मुख रूप में अभिव्यक्त होकर क्रिया की धारणा को उत्पन्न करने वाले आन्तरिक आभासों के लिए उत्तरदायी है। ये आभास एक-दूसरे से ठीक उसी प्रकार संबद्ध या असंबद्ध होते हैं जिस प्रकार स्वप्न में मानसिक संस्कार, या किसी फिल्म में अलग-अलग चित्र। संबन्ध, सामान्य, देश, दिक्, काल आदि की धारणाओं को उत्पन्न करने वाले आभासों के पीछे यही क्रियाशक्ति है।

कर्तृत्वशक्ति का एक और पहलू कालशक्ति है। हम देख चुके हैं कि क्रियाशक्ति अनेक आभासों को मिलाकर एक एकीकृत क्रिया की धारणा को जन्म देती है। कालशक्ति क्रिया की धारणा को बनाने वाले आभासों की शृंखला के घटकों को पृथक् करती है। इस प्रकार यह एक क्रिया के प्रत्येक घटक को अलग

करके उसे शृंखला के एक पृथक् आभास के रूप में हमारे संमुख रखती है। ज्ञातृत्वशक्ति का अपोहन वाला पक्ष जिस प्रकार बुद्धि के दर्पण पर बने हुए बिम्ब-समूह के प्रत्येक घटक को दूसरों से पृथक् रूप में प्रदर्शित करता है, कर्तृत्वशक्ति के संदर्भ में कालशक्ति भी ठीक उसी प्रकार कार्य करती है।

हम महेश्वर अथवा विश्वात्मा के स्वरूप और शक्तियों के विषय में चर्चा कर चुके हैं। विश्व-चैतन्य को महेश्वर कहने का कारण एक राजा के साथ उसकी तुल्यता है। किसी मनुष्य को ईश्वर या राजा कहने के पीछे कारण यह है कि वह विश्व के एक अंश को नियन्त्रित करता है। विश्व-चैतन्य को महेश्वर इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका सर्वविध नियन्त्रण न केवल उस पर है जिसके विषय में हम सब चिन्तन करते हैं बल्कि उस सब पर भी, जो हमारी सीमित शक्ति की कल्पना से परे है[18]।

आभासवाद के प्रवर्ग

पिछले अनुभाग में हमने विश्व-अभिव्यक्ति के कर्ता की चर्चा की। इस अनुभाग में हम अभिव्यक्त विश्व के विवरण की चर्चा करेंगे।

शैव संप्रदाय आभास को छत्तीस तत्त्वों में बाँटता है। यह विभाजन आगम पर आधारित है। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह केवल आस्था का मामला हो और इसलिए मनमाना हो। यह अंशतः योग-अनुभव और अंशतः मन और पदार्थ के सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम है।

ये छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं :

1. शिव	6. माया	11. नियति	16. मन
2. शक्ति	7. कला	12. पुरुष	17-21. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
3. सदाशिव	8. विद्या	13. प्रकृति	22-26. पाँच कर्मेन्द्रियाँ
4. ईश्वर	9. राग	14. बुद्धि	27-31. पञ्चतन्मात्राएँ
5. सद्विद्या	10. काल	15. अहंकार	32-36. पञ्चमहाभूत।

इनमें अन्तिम पच्चीस तत्त्व (12-36) सांख्य के तत्त्वों के समान हैं। छठा तत्त्व माया – वेदान्त – के साथ समान है और शेष दस अद्वैत एवं द्वैत शैव दर्शन दोनों में समान हैं।

ये प्रवर्ग अथवा तत्त्व शुद्ध एवम्, अशुद्ध या मायीय, दो वर्गों में बाँटे गए हैं। यह विभाजन इस बात पर आधारित है कि उनमें माया का अंश है या नहीं। प्रथम पाँच तत्त्व शुद्ध कहलाते हैं क्योंकि वे स्वयं शिव द्वारा कर्म जैसे किसी प्रेरक कारण या माया जैसे उपादान कारण से निरपेक्ष, मात्र इच्छा की सामर्थ्य से अभिव्यक्त

किये जाते हैं। कला से पृथ्वी तक के शेष तत्त्वों का सृजन अघोर या अनन्त द्वारा माया की सहायता से किया जाता है। उन्हें अशुद्ध कहने का कारण यह है कि वे सीमाबद्ध हैं और कर्म के नियम से संचालित होते हैं। ये तत्त्व परमतत्त्व के आभास मात्र हैं और इसलिए अपने स्रोत से सारतः अभिन्न हैं। पुनः मोटे तौर पर उनका विभाजन स्वयंप्रकाश या प्रमाता एवं प्रकाश्य अथवा जड़ (जैसे पृथ्वी) के रूप में किया जा सकता है। इसलिए जिस प्रकार प्रमाता सारतः परमतत्त्व-स्वरूप है, उसी प्रकार पृथ्वी का भी वही स्वरूप है।

शुद्ध सृष्टि अतीन्द्रिय सृष्टि है और विश्वात्मा या परमशिव की पाँच शक्तियों से उसका आनुरूप्य है। ये पाँच शक्तियाँ हैं : चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। भौतिक जगत् के साथ सभी संबन्धों के अभाव की स्थिति में इनमें से किसी एक शक्ति की प्रधानता संभव है और यह एक ऐसी स्थिति में परिणत होती है जहाँ आत्मा की शुद्धता प्रभावित होती है। ये अवस्थाएँ उन क्रमिक अवस्थाओं के समनुरूप हैं जिनसे गुज़र कर योगी अलौकिक अवस्था (तुर्यावस्था) से लौकिक अनुभव की अवस्था पर उतरता है।

शुद्ध रूप से अतीन्द्रिय अवस्थाओं को फिलहाल छोड़कर, यदि हम सामान्य मनुष्य के क्रिया-कलाप से पूर्व घटित होने वाली मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को भी देखें तो पाएँगे कि विश्वात्मा के सारांशभूत जीव में भी परमशिव की पाँचों शक्तियाँ विद्यमान हैं। ये शक्तियाँ उसी क्रम मे व्यापाररत होती हैं जिसमें उनकी अभिव्यक्ति शुद्ध सृष्टि में मानी गई है। किसी कलाकार के क्रिया-कलाप पर दृष्टि डालकर इसे समझने का प्रयास करें। उस कलाकार को देखें जो चित्र में रंग भरने के लिए चित्रफलक पर झुका हुआ है। एक बार वह अपना ब्रुश उठाता है, उसे रंग में डुबोता है और फलक के इतना पास ले जाता है कि हम निश्चित रूप से मान लेते हैं कि वह अपनी कलात्मक अनुभूतियों को फलक पर उतारने ही वाला है। किन्तु अगले ही क्षण वह अचानक रुक जाता है, कुछ सोचता है और ब्रुश को वापिस अपने स्थान पर रख देता है। वह क्या है जो उसकी क्रिया को नियन्त्रित करता है ? यह उसका भाव या मानसिक बिम्ब है जिसे वह फलक पर उत्पन्न करना (या कहें, उतारना) चाहता है। और वह भाव या मानसिक बिम्ब क्या है ? यह सिर्फ़ उसकी आत्मा की प्रभावित स्थिति है जिसे हम ज्ञान कहते हैं। इसलिए किसी भी नई वस्तु के उत्पादन से पहले उसका ज्ञान आवश्यक है क्योंकि उत्पादक क्रिया को वही नियन्त्रित करता है। किन्तु अन्य भावों को हटाकर एक विशेष भाव ही क्यों मन में उठता और उसकी क्रिया को नियन्त्रित करता है ? ऐसा कलाकार की इच्छा के कारण होता है। कलाकार की इच्छा ही किसी विशेष भाव को एक विशेष समय तक बनाए रखती है। ऐसा भी देखा जाता है कि नियन्त्रण के दुर्बल

होने पर दूसरे भाव घुस आते हैं और काम को बिगाड़ देते हैं। इस प्रकार कलाकार के ज्ञान से पहले उसकी इच्छा आती है। किन्तु यह इच्छा भी निरपेक्ष नहीं है। यह चैतन्य की अवस्था पर निर्भर है। लकड़ी का टुकड़ा या पूरी तरह संज्ञाहीन व्यक्ति कभी भी इच्छा नहीं कर सकता। अतः इच्छा चेतना पर निर्भर है और उसे पूर्वतः मानकर चलती है। चैतन्य 'सत्' के साथ अविच्छेद्य रूप में जुड़ा है और सत् (चित्) अहंकार का प्रतिनिधि है जिसके लिए 'अहमस्मि' वाक्य में 'अहम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार सूक्ष्म ब्रह्माण्ड (पिण्ड) के अध्ययन से सिद्ध होता है कि परमशिव की पाँचों शक्तियाँ –चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया– व्यक्ति के मामले में भी पाई जाती हैं। ये अनुभूत तथ्यों पर आधारित हैं और इन्हें मात्र धार्मिक आस्था का मामला नहीं समझना चाहिए।

अलग-अलग तत्त्वों का अध्ययन करने से पूर्व तत्त्व के सामान्य स्वरूप की कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना हमारे लिए अच्छा होगा। तत्त्व वह है जो अपने कार्यों, विन्यासों और उस तत्त्व में प्राप्त किसी विशेष लक्षण से युक्त सत्ता में सदा विद्यमान रहता है। यह उस सृष्टि के सभी विन्यासों का आधार अथवा मुख्य घटक है और इस दृष्टि से यह व्यापक है[19]। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि जिस जगत् में हम रहते और चलते-फिरते हैं, वह पार्थिव जगत् है तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि यह मात्र पृथ्वी से निर्मित है, अपितु यह कि पृथ्वी इसका मुख्य घटक है। सांख्य, उदाहरणतः, यह मानता है कि प्रकृति का प्रत्येक परिणाम त्रिगुणनिर्मित है और परिणामों का परस्पर भेद इस बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्तिगत परिणाम में उनके गुणों का अनुपात कितना भिन्न है। प्रत्यभिज्ञा का भी यही मानना है कि शुद्ध सृष्टि की प्रत्येक अभिव्यक्ति में विश्वात्मा की सभी पाँच शक्तियाँ सारतः उपस्थित हैं और एक अभिव्यक्ति का दूसरी से भेद किसी विशेष अभिव्यक्ति में किसी एक शक्ति की प्रधानता के कारण है[20]।

1. शिव-तत्त्व

शिव-तत्त्व प्रथम अभिव्यक्ति है और इसमें चित्-शक्ति प्रधान है। यह शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ है और इसका कोई विधेयात्मक या वस्तुनिष्ठ संदर्भ नहीं है। इस अवस्था का अनुभव, यदि इस शब्द का प्रयोग उपयुक्त माना जाए, शुद्ध 'अहं' है[21]। 'आत्म-परामर्श' शब्द में जब 'आत्मा' शब्द का प्रयोग शरीर, प्राण, मन या बुद्धि के लिए न हो रहा हो तो उससे जिस सत्ता की धारणा संप्रेषित हो, शिवतत्त्व उसी सत्ता का सूचक है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, अभिनवगुप्त कौल संप्रदाय के प्रभाव में अनुत्तर या परमशिव को सैंतीसवाँ तत्त्व मानते हैं और यह भी बतलाते हैं कि

प्रत्यभिज्ञाकारिका के रचनाकार उत्पलाचार्य ने शिव और परमशिव को एक ही माना है। इसलिए उत्पलाचार्य के अनुसार शिवतत्त्व 'मैं' या 'आत्मा' के रूप में अनुभूत होने वाला अलौकिक अनुभव का धरातल नहीं है अपितु एक तत्त्वमीमांसीय सत्ता है जिसमें ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ एकत्व के रूप में विद्यमान हैं और साथ ही यह सकल तत्त्वराशि की असंख्य सृष्टियों और संहारों को मात्र अपने प्रतिबिम्बों के रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। यह आभासरूप नहीं है यद्यपि समाधि और उपदेश में यह आभासरूप प्रतीत होता है। उत्पलाचार्य की प्रथम कारिका से पता चलता है कि वे शिव या परमशिव अथवा महेश्वर को एक ही मानते थे।

2. शक्तितत्त्व

अभिव्यक्ति के क्रम में शिव के बाद आने वाला दूसरा तत्त्व शक्ति है। इसे दूसरा कहना कठिन है क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति लगभग पहले के साथ ही होती है। जो अभिव्यक्त हुआ है उसकी जब तक चेतना न हो तब तक उसे अभिव्यक्त हुआ कैसे कहा जा सकता है ? फिर भी इसको दूसरा मानना ही पड़ेगा क्योंकि चैतन्य के लिए 'सत्' की पूर्वोपस्थिति तार्किक रूप से आवश्यक है वैसे ही जैसे किरणों के लिए पहले प्रकाश का होना आवश्यक है। जैसे प्रकाश के बिना किरणें नहीं हो सकतीं वैसे ही सत् के बिना चैतन्य नहीं हो सकता। इस अभिव्यक्ति में 'मैं' के साथ 'हूँ' का तत्त्व और जुड़ जाता है और यह अनुभव 'मैं हूँ' (अहमस्मि), इस प्रकार का है। इस अभिव्यक्ति में आनन्द-शक्ति की प्रधानता होती है।

3. सदाशिव-तत्त्व

यह तीसरा तत्त्व है और इसमें इच्छा-शक्ति की प्रधानता है। इच्छा वस्तुनिष्ठ संदर्भ से सर्वथा रहित नहीं है यद्यपि इस अवस्था में विषयरूप वस्तु उतनी स्फुट नहीं है जितनी ज्ञान की अवस्था में। अभिनवगुप्त इस अवस्था की तुलना कलाकार की उस अवस्था से करते हैं जब उसमें एक उत्कृष्ट कलाकृति रचने की इच्छा जागती है। वस्तु की तुलना कलाकार के अभिप्रेत चित्र की फलक पर चित्रित धुँधली सी रूपरेखा के साथ की जा सकती है[22]। इस अवस्था के अनुभव को 'मैं यह हूँ', (अहमिदम्) इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ 'यह' (इदम्) शब्द विश्व के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बहुत ही अस्फुट है। किन्तु कितना भी अस्फुट हो, यह आत्मा को प्रभावित अवश्य करता है। इस अवस्था में वस्तु का स्वरूप सीमित नहीं है जैसा सामान्य मर्त्यों के विषय में होता है। संपूर्ण विश्व वस्तु है और प्रमाता द्वारा अपने आपसे अभिन्न रूप में अवधारित होता है (सर्वस्य

अव्यतिरेकेण)। इस अवस्था का अनुभव करने वाले को 'मन्त्रमहेश' कहा गया है और प्रभाव की कारणभूत वस्तु को 'आणवमल' के नाम से जाना जाता है।

4. ईश्वर-तत्त्व

यह चौथा तत्त्व है और इसमें ज्ञानशक्ति प्रधान है। सदाशिव तत्त्व में जो 'यह' अंश था, वह इस अवस्था में प्रधान हो जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि ज्ञान तो आन्तरिक या बाह्य कारणों से होने वाली आत्मा की प्रभावित स्थिति ही है। सदाशिव अवस्था में वस्तु अस्पष्ट एवं धुँधली है, जबकि यहाँ वह बहुत स्पष्ट है। यहाँ तक कि आत्मा, जो पिछली अवस्था में प्रधान था, यहाँ पृष्ठभूमि में चला जाता है। फलक पर जब तक चित्र की रूपरेखा अस्पष्ट और धुँधली है, हम उसे फलक कहते हैं किन्तु रूपरेखा के स्पष्टतया उभर आने पर हम उसे चित्र कहते हैं और फलक पृष्ठभूमि में चला जाता है। ईश्वर-अवस्था में वस्तु प्रधान हो जाती है और प्रमाता, जो सदाशिव की अवस्था में प्रधान था, अब पृष्ठभूमि में चला जाता है। ईश्वर के अनुभव में वस्तुनिष्ठ अंश की प्रधानता बतलाने के लिए हम इस अवस्था को 'यह मैं हूँ' (न कि 'मैं यह हूँ'), इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं[23]।

5. सद्विद्या-तत्त्व

यह पाँचवाँ तत्त्व है और इसमें क्रिया की प्रधानता है। यहाँ वस्तुनिष्ठ अंश सदाशिव-अवस्था जितना अस्पष्ट नहीं है और ईश्वर-अवस्था जितना सुस्पष्ट भी नहीं है। किन्तु वह बराबरी में रखे हुए तराजू के पलड़ों की भाँति (समधृततुलापुटन्यायेन) प्रमातृनिष्ठ अंश के साथ पूर्ण साम्यावस्था में रहता है। इस स्थिति का अनुभव है : मैं यह हूँ। सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या– इन तीन अवस्थाओं के भेद को स्पष्ट करते हुए उत्पलाचार्य एक कारिका में कहते हैं–

> ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
> सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदन्धियोः[24]।।

(ई.प्र.वि., II. 196)

जैसे-जैसे शिव-शक्ति अवस्था से अभिव्यक्ति की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, वस्तुनिष्ठ चैतन्य (इदं-धी) का उदय होता है। किन्तु सदाशिव अवस्था में यह इतना धुँधला और अस्पष्ट है कि प्रमातृनिष्ठ चैतन्य (अहं-धी) मानों इस पर छा जाता है। यह 'मैं' में वस्तुनिष्ठता का आन्तरिक उदय है। ईश्वर अवस्था में यह आन्तर वस्तु मानों बाहर आती है और प्रधानतया अनुभूत होती है जबकि सद्विद्या में दोनों समान रूप से स्फुट हैं और एक ही आश्रय में स्थित (समानाधिकरण) हैं। अतः चाहे इसे 'अहमिदम्' कहें या 'इदमहम्', दोनों एक ही अवस्था को बतलाते हैं।

ये शुद्ध सृष्टि के तत्त्व हैं और विश्वात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस अभिव्यक्ति में वस्तुनिष्ठ जगत् शुद्ध रूप से प्रत्ययात्मक है और इसी रूप में जाना जाता है। अनुभव करने वाली सत्ताएँ वस्तुतः वैश्विक सत्ताएँ हैं और इसी रूप में वे अपने आप को जानती हैं। उनका अनुभव भी विश्वात्मक है अर्थात् सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त है। इसलिए वे यथार्थ-ज्ञान के क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती हैं और उन्हें शुद्ध सृष्टि कहा जाता है। यह सृष्टि सीमामुक्त है जबकि इसके विपरीत अशुद्ध सृष्टि, जो माया की रचना है, स्पष्टतः परिमित है।

उत्पलाचार्य कहते हैं कि सद्विद्या में प्रमातृनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ अंशों का सामानाधिकरण्य है। अवधारणाएँ या प्रत्यय समानाधिकरण तब कहलाते हैं जब वे एक ही वस्तु का संकेत या कथन करते हों। उदाहरण के लिए, 'कवि कालिदास भारत के गौरव हैं', इस वाक्य में कालिदास और कवि, दोनों शब्द एक ही व्यक्ति का कथन करते हैं। अतः ये दो शब्द समानाधिकरण हैं, अर्थात् उनका अधिकरण या उनका संकेत एक ही है। सद्विद्या की अवस्था में होने वाले अनुभव की भी यही स्थिति है। इसमें प्रमातृनिष्ठ चैतन्य (अहं-धी) और वस्तुनिष्ठ चैतन्य (इदं-धी) एक ही सत्ता–अर्थात् विश्वात्मा–के सूचक हैं। किन्तु हमारे संकुचित ज्ञान (विद्या) में प्रमाता वस्तु से अलग जाना जाता है। वे सदा परस्पर व्यावर्तक अवधारणाएँ हैं। 'मैं' (अहम्) सदा 'यह' (इदम्) से पृथक् है क्योंकि 'मैं' परिमित प्रमाता का और 'यह' परिमित 'वस्तु' का बोधक है। इससे सद्विद्या (शुद्ध सृष्टि में विश्वात्मा की अनुभव की स्थिति) और विद्या (वह अवस्था जो माया की सृष्टि है) का भेद ठीक-ठीक स्पष्ट हो जाता है[25]। सद्विद्या की अवस्था में एकत्व की धारणा प्रधान है जबकि विद्या की अवस्था में द्वैत अथवा बहुत्व प्रधान है। शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच यह भेद का विशेषक बिन्दु है।

6. माया-तत्त्व

अशुद्ध सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति माया है। यही तत्त्व ऊपरी तौर पर विश्वात्मा के एकत्व को खंडित करता है। विश्वात्मा के सृजनात्मक पक्ष में माया उसकी सर्वाधिक विशिष्ट शक्ति है। यह बिना किसी बाह्य सहायता या प्रेरक के, अनेकता को अभिव्यक्त करती है। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त कहते हैं :

माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यभिचारिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः[26]।।

अतः माया विश्वात्मा की स्वातन्त्र्य-शक्ति का वह पहलू है जो अभिव्यक्ति के द्वैत या बहुत्व का कारण है। जब परमात्मा बहुत्व के रूप में आभासित होने की इच्छा करता है तब इसका व्यापार होता है।

माया की अवधारणा में इसे आवरक शक्ति भी माना गया है और सभी परिमित अभिव्यक्तियों का प्रधान कारण भी। आवरक पक्ष में इसे मोह कहा गया है और परिमित अभिव्यक्तियों के प्रधान कारण के रूप में इसका नाम परा निशा है। माया के कार्य भी अतिदेश द्वारा माया ही कहलाते हैं। अतः माया जड़ है क्योंकि जो कुछ भी विश्वात्मा से पृथक् रूप में आभासित होता है वह जड़ है। बहुत्वात्मक जगत् का कारण होने के कारण यह व्यापक है। सामान्य बुद्धि से परे होने के कारण यह सूक्ष्म है। 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः', इस सिद्धान्त के अनुसार माया स्वातन्त्र्यशक्ति, और इसलिए विश्वात्मा, का एक पक्ष है और इस नाते यह नित्य है[27]।

अशुद्ध सृष्टि में दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं: चेतन (जीवाभास) और अचेतन (जडाभास)। आवरक (मोह) के तौर पर माया असंख्य जीवात्माओं के रूप में विश्वात्मा के प्रतिभासित होने का कारण है। अपने यथार्थ स्वरूप का अज्ञान (स्वरूपाख्याति) और उसके फलस्वरूप ज्ञान और क्रिया की उनकी शक्तियों की अपूर्णता इन जीवात्माओं का विशिष्ट लक्षण है। सभी अचेतन परिमित अभिव्यक्तियों का मूल कारण (परा निशा) होने के नाते यह सभी आभास्य पदार्थों को अपने भीतर समेटे रखती है और इसकी आभासक गतिविधियाँ महेश्वर की इच्छा द्वारा नियन्त्रित होती हैं।

इस स्थिति में, यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में माया को (आवरक शक्ति के रूप में) एक पृथक् तत्त्व के रूप में मान्यता देना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है। इस प्रश्न के उत्तर में हम डॉ॰ कान्तिचन्द्र पांडेय की पुस्तक **अभिनवगुप्त** (द्वितीय संस्करण, पृ॰ 372) से एक उद्धरण नीचे दे रहे हैं :

"यदि परम सत्ता सभी पाँचों शक्तियों–चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया–से युक्त है और इसलिए सब प्रकार से पूर्ण है और विश्व उससे अभिन्न है तो यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवात्माओं का बहुत्व, अपनी समस्त सीमाओं के साथ कहाँ से उद्‌भूत होता है, और परिमित सत्ताओं के अनुभव की विषयभूत परिमित सृष्टि का कारण कौन है ? इन तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए, या यों कहें कि इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही आवरक शक्ति के रूप में माया की कल्पना की गई है। इस प्रकार, माया-तत्त्व आत्मा के यथार्थ स्वरूप को छुपा देता है जिससे न केवल इसकी पाँचों शक्तियाँ आवृत हो जाती हैं अपितु इसके साथ अभेद-संबन्ध में स्थित जगत् भी लुप्त हो जाता है। इस प्रकार माया का दूसरा पक्ष जहाँ यह परिमित जगत् की कारण है, कार्यरत होता है और परिमित विश्व को उसके सभी अवयवों में लगभग एक साथ ही उत्पन्न करता है, बहुत कुछ वैसे ही, जैसे आँवले के पेड़ पर ज़ोर का प्रहार होने पर वह अपने फल गिरा देता

है। (सा माया क्षोभमापन्ना विश्वं सूते समन्ततः। दण्डाहतेवामलकी फलानि किल यद्यपि ।। – **त.आ.**, VI. 128)।"

7. कला-तत्त्व

कला माया का प्रथम उत्पाद है। माया की शक्ति द्वारा आवृत होकर विश्वात्मा आणवमल से प्रभावित होता है और असंख्य प्रकार की आकृतियाँ वैसे ही घटित होती हैं जैसे महदाकाश अनेक प्रकार के घटाकाशों में सीमित हो जाता है[28]। विश्वात्मा अनेकविध जीवात्माओं के रूप में भासित होने लगता है। कला नामक तत्त्व उस आत्मा के साथ जुड़ा है जिसकी ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ आवृत हो चुकी हैं। कला व्यष्टि-प्रमाता के संदर्भ में क्रियाशक्ति को अंशतः पुनः स्थापित करती है। कला का अर्थ है अंश (उदाहरण के लिए चन्द्रमा के कुल प्रकाश का सोलहवाँ अंश)। यह मानव जाति में कार्यरत समग्र क्रियाशक्ति के एक अंश की वाचक है। कला को एक स्वतन्त्र तत्त्व इसलिए माना गया है क्योंकि परिमित आत्मा को परिमित क्रियाशक्ति लौटाने का स्वतन्त्र कार्य इसके द्वारा संपादित किया जाता है। यह कार्य सर्वथा विशिष्ट है और आवरण के माया के विशिष्ट व्यापार से उलट है। पुरुष से विविक्त रूप में कला-तत्त्व का ज्ञान कर्म के बंधन (कार्म मल) से मुक्ति दिलाने वाला है और जीव को विज्ञानाकल की अवस्था तक उठा देता है जहाँ वह माया की पहुँच से परे चला जाता है[29]।

8. विद्यातत्त्व

परिमित आत्मा में क्रियाशक्ति को स्वभावतः ज्ञानशक्ति की पूर्वापेक्षा होती है जिससे परिमित आत्मा की क्रिया अपने अभीष्ट लक्ष्य को सविकल्प रूप में प्राप्त कर सके। इस अवस्था में यह ज्ञानशक्ति पहले ही माया द्वारा आवृत कर दी जाती है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा में विद्यातत्त्व की परिकल्पना की गई है। परिमित आत्मा से जुड़ा हुआ विद्यातत्त्व ज्ञानशक्ति को अंशतः पुनः प्रतिष्ठित करता है। विद्यातत्त्व को परिमित आत्मा से संबद्ध विवेक-शक्ति माना जा सकता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बत विविध पदार्थों को एक-दूसरे से पृथक् रूप में जानना विद्या का कार्य है।

9. रागतत्त्व

क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति सभी व्यष्टि प्रमाताओं में समान हैं। फिर प्रत्येक प्रमाता क्रिया का अपना विशिष्ट विषय क्यों चुनता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रत्यभिज्ञा दर्शन रागतत्त्व की परिकल्पना करता है। राग वह शक्ति है जिसके कारण व्यक्ति अपने ज्ञान के अन्य सभी पदार्थों को छोड़कर किसी विशेष पदार्थ को किसी क्रियाविशेष के विषय के रूप में चुनता है। इस राग को हम ऐसी

इच्छा कह सकते हैं जिसका वस्तुनिष्ठ संदर्भ सामान्य रूप से तो है किन्तु जिसका कोई विशेष विषय नहीं है[30]।

10. कालतत्त्व

कालतत्त्व परिमित आत्मा का एक और अवच्छेदक निमित्त है। शैव दर्शन में काल शब्द का प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अवधारणाओं को व्यक्त करने के लिए किया गया है। परमतत्त्व के संदर्भ में यह सर्वशक्तिमत्ता (कर्तृत्वशक्ति) का एक रूप है। इस रूप में इसे कालशक्ति कहा जाता है। यह परिमित आत्मा के एक अवच्छेदक तत्त्व के लिए भी प्रयुक्त हुआ है और मापक मान के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। कालशक्ति के रूप में यह सृष्टि में क्रम अथवा समकालिकता को उत्पन्न करता है और पौराणिक अवधारणा में काली के रूप में व्यक्त होता है[31]। व्यक्ति प्रमाता के अवच्छेदक निमित्त के रूप में इसे कालतत्त्व कहते हैं। यह उसकी परिमित शक्ति है जिसके द्वारा वह पहले शरीर, प्राण, बुद्धि इत्यादि जैसे उन पदार्थों में क्रम का अनुभव करता है जिनके साथ वह अपने आपका तादात्म्य करता है और फिर जैसे-जैसे वह प्रमातृनिष्ठ चेतना की श्रृंखला में किसी विशेष कड़ी के साथ अनुभव के बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है वैसे-वैसे उनमें क्रम को आरोपित करता है। शैवों द्वारा कालतत्त्व इसी अर्थ में समझा जाता है। हम इसे 'समय' कह सकते हैं 'जो संवेद-शक्ति का एक रूप है। यह मन के प्रमातृनिष्ठ स्वरूप में अन्तर्निहित एक निर्धारण या संबन्ध है। मापक मान के रूप में समय मात्र एक अवधारणा है और अनेकता में एकता के निर्माण पर आधारित है।

11. नियति-तत्त्व

यह प्रत्येक वस्तु की कारण-सामर्थ्य को संकुचित करने वाली शक्ति है। इसे एक विशिष्ट क्षेत्र में यान्त्रिक कारण-कार्य संबन्ध कहा जा सकता है[32]। यह भी व्यक्ति के अवच्छेदक निमित्तों में से एक है क्योंकि वह अपने क्रिया-कलाप में इस शक्ति द्वारा नियन्त्रित होता है।

विद्या, राग काल और नियति, ये चारों तत्त्व कला-तत्त्व के कार्य हैं[33]। कला से नियति (दोनों समाविष्ट) तक के पाँच तत्त्व कञ्चुक कहे गए हैं जिसका अर्थ है एक वस्त्र-विशेष अथवा आवरण। माया द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप और असीमित शक्तियों से वंचित होकर जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप के आवृत होने के कारण इस अनेकात्मक जगत् में इन पाँच कञ्चुकों को धारण करके भटकता है।

12. पुरुष-तत्त्व

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि के बीच पुरुष-तत्त्व शुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ

तत्त्व को प्रस्तुत करता है। इसे पुमान्, पुद्गल या अणु भी कहा गया है। यह जीव के शाश्वत पक्ष का प्रतिनिधि है। यह संस्कारों के साथ जन्म और मरण के असंख्य चक्रों में घूमता है। पुरुष सदा पूर्वोलिखित पाँच कंचुकों से आवृत होकर माया के प्रभाव में भ्रमण करता और कार्य करता है[34]। माया के साथ इन पाँच कंचुकों को आणव मल कहा जाता है।

13. प्रकृति-तत्त्व

अभिव्यक्ति के क्रम में, पुरुष जहाँ प्रमातृनिष्ठ चैतन्य का प्रतिनिधित्व करता है वहीं प्रकृति कारणता की अवधारणा को प्रस्तुत करती है। प्रकृति कला के शुद्ध वस्तुनिष्ठ (वेद्यमात्र) कार्यों में प्रथम है[35]। यह सत्त्व, रजस् और तमस् के त्रिगुण की पूर्ण साम्यावस्था है। इसे सामान्यात्मक वस्तु (वेद्यसामान्यात्मकम्) कहा जा सकता है। शैव दर्शन के अनुसार प्रकृति या प्रधान पुरुष जैसी ही असंख्य है क्योंकि प्रत्येक पुरुष की अपनी-अपनी प्रकृति है। यहाँ सांख्य की भाँति सभी पुरुषों के लिए एक ही प्रकृति नहीं है (तच्च प्रतिपुरुषं नियतत्वादनेकम्–जयरथ)। यह स्वतन्त्रेश अथवा अनन्त द्वारा पुरुष के लिए उत्पादक क्रिया में प्रेरित की जाती है।

14. बुद्धि-तत्त्व

बुद्धि त्रिगुण का उत्पाद है। यह सब ओर के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ है। यह भीतर से आत्मा के प्रकाश का और बाहर से बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। बुद्धि में अपना प्रतिबिम्ब संक्रान्त करने वाले पदार्थ दो प्रकार के हैं : (1) बाह्य, जैसे घट आदि स्थूल पदार्थ जिनका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष के समय नेत्रों के माध्यम से गृहीत होता है, और (2) आन्तर, जैसे पुनरुज्जीवित संस्कारों से निर्मित बिम्ब। दर्पण-सदृश बुद्धि में प्रतिबिम्ब के कारण आभासित होने वाले परिवर्तन को बुद्धि-वृत्ति अथवा केवल वृत्ति या ज्ञान कहते हैं।

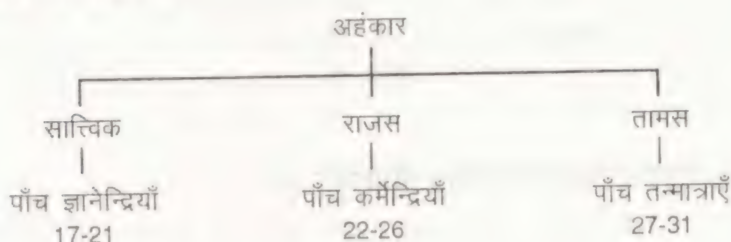
15. अहंकार-तत्त्व

अहंकार बुद्धि का उत्पाद है। यह बुद्धि के साथ परिमित आत्मा के तादात्म्यीकरण का कारण है। बुद्धि का क्रियाकलाप इसी तादात्म्यीकरण के कारण परिमित आत्मा पर आरोपित कर दिया जाता है। अहंकार का प्रमुख कार्य तन्त्र के भीतर पाँच प्राणों को और इस प्रकार जीवन को ही नियन्त्रित करना है। अहंकार और अहंभाव (आत्म-चेतना) एक नहीं है क्योंकि अहंभाव विशुद्ध रूप से प्रमातृनिष्ठ है (स्वात्ममात्रविश्रान्तिसतत्त्वः) और इसलिए इसका कोई वस्तुनिष्ठ संदर्भ नहीं है जबकि अहंकार बुद्धि पर आत्मा के अध्यारोप के कारण होता है।

16. मनस्तत्त्व

मन अहंकार का उत्पाद है और इसमें सत्त्वांश प्रधान है। इन्द्रियों के साथ मन के सहयोग के बिना किसी भी प्रकार का कोई संवेदन संभव नहीं है। मन ही संवेदन-समूहों से बिम्बों का निर्माण करता है।

अगले पन्द्रह तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं और इनमें से प्रत्येक पाँच के समूह में क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् प्रधान है। इन्हें निम्नांकित रीति से प्रदर्शित किया जा सकता है :



17-21 ज्ञानेन्द्रियाँ

ज्ञानेन्द्रियाँ बोध की शक्तियाँ हैं। इन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहते हैं। ये हैं :

घ्राणेन्द्रिय, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत्र।

शैव दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ मात्र भौतिक नहीं हैं; वे परिमित आत्मा की शक्तियाँ हैं जो भौतिक अवयवों के माध्यम से कार्य करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों की प्रकृति विद्या अथवा संकुचित ज्ञान-शक्ति की है।

22-26 कर्मेन्द्रियाँ

कर्मेन्द्रियाँ क्रिया-सामर्थ्य हैं। ये पाँच हैं : 1. विश्राम एवं निष्क्रिय भोग (उपस्थ), 2. मलोत्सर्जन (विसर्ग), 3. गमन या विहरण, 4. आदान, और 5. वचन की सामर्थ्य। ये पाँच भौतिक क्रियाओं की सामर्थ्य हैं और परिमित आत्मा में अधिष्ठित परिमित क्रियाशक्ति अर्थात् कला के विविध रूप हैं।

27-31 तन्मात्राएँ

ये गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक पाँच सूक्ष्म तत्त्व हैं जो ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं।

32-36 महाभूत

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश–ये पाँच स्थूल तत्त्व महाभूत कहलाते हैं। ये तन्मात्राओं के कार्य हैं।

इस विवरण से हमें आभासवाद और उसके प्रवर्गों का ठीक-ठीक परिचय मिल जाना चाहिए। यह दर्शन प्रातिभासिक सत्ता के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट करके अपने अनुयायियों को परमतत्त्व के अभिज्ञान के योग्य बनाता है। यह केवल उनके लिए है जो सत्य के अन्वेषक हैं और 'आभासित' के यथार्थ स्वरूप को जानने के इच्छुक हैं। जो लोग केवल क्षणिक महत्त्व की लौकिक क्रियाओं में रस रखते हैं और आभासित पदार्थों के प्रकट स्वरूप को ही जानना चाहते हैं, उनके लिए यह दर्शन नहीं है। उनके लिए तो अभिनवगुप्त न्याय की दृष्टि और पद्धति को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं (नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम्)।

कर्म और ज्ञान के शैव सिद्धान्तों की अपनी विलक्षणताएँ हैं। यहाँ उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। फिर भी, आभासवादी के ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण पर कुछ शब्द कहना उचित होगा क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त के चिन्तन का अवलोकन करते समय हमें इसका उल्लेख करना होगा।

(ग) शैवाद्वैत दर्शन की ज्ञान-मीमांसीय दृष्टि

ज्ञान में चार तत्त्व हैं : (1) ज्ञान का साधन –प्रमाण, (2) ज्ञान का कर्ता –प्रमाता, (3) स्वयं ज्ञान –प्रमिति, और (4) ज्ञान का विषय –प्रमेय। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि आभासवादी के लिए इन शब्दों के क्या अर्थ हैं।

(1) **प्रमाण** : सांख्य एवं अन्य दर्शन ज्ञान का साधन बुद्धि को मानते हैं जो चेतन तत्त्व (चित् अथवा पुरुष) से भिन्न एवं स्वतन्त्र मानी गई है। किन्तु प्रकृति का विकासज होने के नाते बुद्धि अपने आप में जड़ है। यह तो भीतर से आने वाले पुरुष के प्रकाश की और बाहर से पड़ने वाले बाह्य पदार्थ के प्रतिबिम्ब की जड़ मिलनभूमि मात्र है। परन्तु आभासवादी के मत में प्रमाण स्वप्रकाशता से रहित नहीं होता क्योंकि जो स्वयं प्रकाशशून्य है वह दूसरों को कैसे प्रकाशित करेगा ? अतः उसका मानना है कि यह स्वयं चित् का प्रकाश है। यह वस्तु को प्रकाशित करने वाली, विश्वचैतन्य की परिमित अभिव्यक्ति है। यह विषय की ओर उन्मुख होती है और उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है।

(2) **प्रमाता** : चित् के दो पक्ष हैं। यह अपने प्रकाश को विषय की ओर भेजती है और इस रूप में यह प्रमाण है। परन्तु यह आत्म-चेतन भी है और इसलिए यह ज्ञान की कर्ता, अर्थात् प्रमाता है। जब कोई संज्ञानात्मक क्रिया नहीं होती या जब इसके लिए अपना प्रतिबिम्ब डालने हेतु वस्तुनिष्ठ जगत् नहीं होता तब भी यह बना रहता है। अतः यह स्वयंप्रकाश है। यह एक ऐसी ज्योतिशिखा की भाँति है जो इस बात से निरपेक्ष सदा प्रदीप्त रहती है कि प्रकाशनीय वस्तु है या नहीं। कला, राग आदि पाँच कञ्चुक इसके अवच्छेदक निमित्त हैं।

(3) **प्रमिति** : जब यह ज्योतिशिखा किसी पदार्थ के प्रतिबिम्ब पर प्रतिक्रिया करती है अर्थात् जब इसमें आन्तरिक शब्द का उदय होता है तो इसे ज्ञान अथवा प्रमिति कहते हैं।

(4) **प्रमेय** : आभासवादी के अनुसार, 'अनुत्तर' के अतिरिक्त शेष सब आभास हैं। सभी आभास अनुत्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और स्वयं प्रमिति भी एक आभास है। आभास एक पृथक् अभिव्यक्ति है जिसके लिए व्यावहारिक जीवन में, एक अकेले शब्द का प्रयोग होता है। ज्ञान की क्रिया का आरम्भ तब होता है जब परिमित आत्मा का प्रकाश एक विलगरूप विषयभूत आभास की ओर बढ़ता है। प्रकाश प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् आन्तरिक अभिव्यक्ति के प्रादुर्भाव के साथ यह क्रिया समाप्त हो जाती है। (प्रत्याभासं प्रमाणव्यापारः)। प्राथमिक ज्ञान बहुत कुछ उस जाति की भाँति है जिसे वैयाकरण अर्थ मानते हैं। यह प्राथमिक ज्ञान काल और देशरूप अवच्छेदकों से स्वतन्त्र है। विलगरूप आभास यथार्थ है क्योंकि यह प्राथमिक ज्ञानक्रिया का विषय है। यह अकेले ही मानसिक प्रतिक्रिया का विषय है। व्यावहारिक जीवन में वस्तु की कारणात्मक सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहती है। फिर दूसरा सोपान आरम्भ होता है। इसमें प्राथमिक क्रिया में पृथक्-पृथक् गृहीत विभिन्न आभासों का एकीकरण होता है। यह आभासों के मिश्रित समुदाय में परिणत होता है जो प्रमाता की प्रयोजनमूलक प्रवृत्ति के फलस्वरूप होने वाली (केवल मात्र ज्ञान से भिन्न) क्रिया का विषय होता है। क्रिया का विषय कोई अकेला पड़ा हुआ आभास नहीं है। यह अनेक आभासों का मिश्रणरूप है। प्राथमिक ज्ञानक्रिया के विषय के रूप में आभास जाति अथवा सामान्य के समकक्ष ही है किन्तु व्यावहारिक जीवन में इसका उपयोग करने की इच्छा होने पर विषय अर्थात् आभासों का मिश्रण काल और देश से संबद्ध हो जाता है। जब ऐसी कोई इच्छा न हो तो यह काल और देश से मुक्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक आभास का ज्ञान 'सामान्य' के रूप में होता है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में आभासों का मिश्रीकृत समुदाय होता है। यही कारण है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ जातिपरक होता है यहाँ तक कि 'यह' शब्द भी सभी विषयरूप पदार्थों में सामान्य रूप से विद्यमान जातिरूप 'यह' को व्यक्त करता है। इसलिए प्रमेय सदैव एक सामान्यरूप आभास है। यह विशेष केवल तभी होता है जब समुदाय काल और देश द्वारा सीमाबद्ध हो। किन्तु उस स्थिति में यह ज्ञान का नहीं, अपितु क्रिया का विषय होता है।

कश्मीर के अद्वैतवादी शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है क्योंकि विश्व की उत्पत्ति एवं लय महेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार होते हैं।

अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से इसे आभासवाद कहते हैं। विविध प्रकार के आभास परमतत्त्व में उसी प्रकार एकात्म रूप से विद्यमान हैं जैसे मयूर के अंडे के भीतर वर्तमान द्रव में एक पूर्ण विकसित मयूर के सभी वर्ण तदात्म रूप में विद्यमान रहते हैं। शैव मत में विश्व की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए इस उपमान का प्रयोग बहुधा किया जाता है और यह 'मयूराण्डरसन्याय' के नाम से प्रसिद्ध है।

चार

अभिनवगुप्त का सौन्दर्य-सिद्धान्त (1)

सौन्दर्यशास्त्र स्वतन्त्र कला का विज्ञान एवं दर्शन है और स्वतन्त्र कला वह कला है जो परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रस्तुत करती है (**इंडियन एस्थे.**, पृ॰ 1)। कला की किसी रचना के साथ सौन्दर्यपरक संबन्ध अन्ततः ब्रह्म के अनुभव तक पहुँचा देता है। भारतीय चिन्तन के अनुसार, केवल कान और नेत्र ही सौन्दर्यविषयक इन्द्रियाँ हैं। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का सरोकार मुख्य रूप से काव्य (नाटक भी इसी में आता है) और संगीत से है। स्वतन्त्र कला का सर्वश्रेष्ठ रूप काव्य है, और नाटक काव्य का श्रेष्ठतम रूप है (काव्येषु नाटकं रम्यम्)। अन्य किसी भी कला की अपेक्षा नाटक में जीवन की विविध स्थितियाँ अधिक सफलतापूर्वक व्यक्त की जाती हैं। यही कारण है कि भारत में सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन नाट्यकला के संदर्भ में हुआ है।

रस का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है : नाटककार के दृष्टिकोण से, अभिनेता के दृष्टिकोण से, और दर्शक के दृष्टिकोण से। नाटककार और अभिनेता की दृष्टि से किये गए अध्ययन का सरोकार किसी नाट्य-अंश की प्रस्तुति से है जबकि दर्शक को दृष्टि में रखकर किया गया अध्ययन संपूर्ण नाटक के आस्वाद में निहित मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण और इसके सारभूत स्वरूप की व्याख्या से संबद्ध है।

(क) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भरत का नाट्यशास्त्र इस विषय पर उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ऋग्वेद में संवाद-सूक्त मिलते हैं और यजुर्वेद में अभिनेता का प्रत्यक्ष उल्लेख है (नृत्ताय शैलूषम्)। इस विषय पर शिलालि के एक सूत्ररूप ग्रन्थ का उल्लेख भी प्राप्त होता है किन्तु वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः हमें भरत के ग्रन्थ से ही अपना अध्ययन प्रारम्भ करना होगा।

भरत का नाट्यशास्त्र मुख्यतः नाट्यकृति के प्रस्तुतीकरण से संबद्ध है। यह 'क्रियाकल्प' विधा का ग्रन्थ है। भरत के समक्ष समस्या नाटक की तकनीक की थी। वास्तव में, भरत अभिनेता और सूत्रधार को रंगमंच पर नाटक के प्रस्तुतीकरण के विषय में निर्देश देते हैं यद्यपि शास्त्र के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों का

उल्लेख भी यत्र-तत्र किया गया है।

नाटक के विधायक तत्त्वों में रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटककार जिस रस को प्रस्तुत करना चाहता है उस पर अपने मन को स्थिर किये बिना वह प्रभावोत्पादक स्थितियों को उत्पन्न नहीं कर सकता। अभिनेता को अभिनय के माध्यम से जिस रस को व्यक्त करना है उसे जाने बिना वह अपनी वेश-भूषा एवं रूप-विन्यास का चुनाव नही कर सकता और दर्शक तो नाटक में रस के आस्वादन के लिए ही नाट्यशाला में जाता है। दर्शक के दृष्टिकोण से अन्य सभी तत्त्व इस आस्वाद के अधीन हैं। इस प्रकार चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें, रस नाटक में सबसे महत्त्वपूर्ण है (अतो व्याख्यातृनटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव रसस्यैव प्राधान्यम् – अभिनवभारती, भाग I, पृ॰ 273)।

विषयरूप रस (1) विभाव (मानव-केन्द्रित परिस्थिति), (2) अनुभाव (शारीरिक परिवर्तन), (3) व्यभिचारी भाव (अस्थायी भावनाएँ) और (4) स्थायी भाव (मूल भावदशा) का विन्यास है। भरत के अनुसार रस इन चारों तत्त्वों का सावयव (अङ्गाङ्गी भाव से युक्त) एकत्व है। इस एकत्व के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भरत ने षाडव रस का दृष्टान्त दिया है। षाडवरस में दही जैसी वस्तुएँ, काली मिर्च, इलायची आदि मसाले, इमली, गेहूँ का दलिया आदि औषधियाँ, गुड़ और चावल आदि द्रव्य, इन सभी पदार्थों को उचित अनुपात में मिलाकर निपुण रसोइये द्वारा भली-भाँति पका लिया जाता है। इन सभी पदार्थों में प्रत्येक का अपना अलग स्वाद है किन्तु पका हुआ मिश्रण एक नया स्वाद देता है जो उसमें मिश्रित अलग-अलग वस्तुओं के अलग-अलग स्वाद से भिन्न है। यह नया स्वाद और पेय, दोनों षाडव रस कहलाते हैं। नाटक में प्रदर्शित रस भी इसी प्रकार का है। इसकी उत्पत्ति केवल तभी संभव होती है जब कविप्रतिभा द्वारा विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव को उचित अनुपात में ऐसे सामंजस्यपूर्ण रूप में एकीकृत कर दिया जाता है कि वे अपने पृथक्-पृथक् प्रदर्शित रूपों से सर्वथा भिन्न वस्तु को प्रस्तुत करने लगते हैं।

रस की अवधारणा और उसके तत्त्वों की व्याख्या आरम्भ करने से पूर्व भरत द्वारा उनके रस-सिद्धान्त के प्रसंग में उल्लिखित कुछ बिन्दुओं को ध्यान में रखना समीचीन होगा। रसविधायक तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न नहीं होते। वे कला की सृष्टि हैं जो प्रकृति का अनुकरण नहीं करती अपितु कविदृष्टि को प्रस्तुत करती है :

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।

ऐतिहासिक नाटक में भी कथावस्तु को ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रस्तुत

नहीं किया जाता। नाटक में काम कर रहे ऐतिहासिक चरित्र इतिहास के व्यक्ति नहीं, अपितु नाटक में विभाव हैं। यह अनुकृति नहीं है। जैसा भट्टतौत कहते हैं यह एक विशेष प्रकार के चरित्र को प्रस्तुत करने की क्रिया (अनुसरण) है। इस प्रकार रस एक सौन्दर्य-वस्तु है जो एक विन्यास के रूप में मूल मानसिक अवस्था से भिन्न है। रस की उत्पत्ति भरत का मुख्य प्रतिपाद्य है।

भरत द्वारा प्रतिपादित विषयरूप रस को जगत् में उपलब्ध किसी भी पदार्थ के वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इसे यथार्थ नहीं कह सकते – पहला कारण तो यह है कि यह प्रकृतिजन्य नहीं है और दूसरा यह कि अन्य भौतिक वस्तुओं की भाँति इसकी कारणात्मक क्षमता सभी के लिए समान नहीं है। इसे उस अर्थ में मिथ्या भी नहीं कह सकते जिसमें आकाशकुसुम मिथ्या है क्योंकि आकाशकुसुम का तो कोई अस्तित्व ही नहीं होता जबकि एक कलाकृति का अपना अस्तित्व होता है। इसे भ्रान्तिजनक भी नहीं मान सकते। भ्रान्ति अपने तात्त्विक स्वरूप में वैसी नहीं होती जैसी ऊपर से दिखाई देती है किन्तु विषयरूप रस जैसा ऊपर से दिखाई देता है वैसा ही तात्त्विक रूप में होता है। संक्षेप में, सामान्य व्यवहार-जगत् से भिन्न इसका अपना जगत् है जिसे सौन्दर्य जगत् अथवा कला-जगत् कहा जा सकता है और अपने उस जगत् में इसकी स्वतन्त्र सत्ता है (एवं सर्व रसमयं विश्वम्– अ॰भा॰)।

भरत के लिए रस की समस्या सर्वथा व्यावहारिक है और नाटक में रसविधायक तत्त्वों के सर्वांगीण विश्लेषण पर आधारित है। नाटक में एकीकृत होने पर ये तत्त्व रस में कैसे परिणत होते हैं इसे भरत ने रससूत्र के नाम से प्रसिद्ध निम्नलिखित सूत्र में स्पष्ट किया है।

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।

हम व्यावहारिक जीवन में देखते हैं कि किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए की गई क्रियाओं की शृंखला का प्रधान स्रोत कोई भाव होता है। यह किसी ऐसी परिस्थिति द्वारा उत्पन्न किया जाता है जिसका कोई केन्द्रबिन्दु होता है। इसलिए इस परिस्थिति को इस भाव का कारण माना जाता है। उद्देश्य की प्राप्ति होने तक यह भाव स्थायी रहता है। भाव अनेक शारीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों– जैसे प्रेम में नेत्रों और भँवों के विचित्र संचालन, विवर्णता, सामान्य व्यवहार की कोमलता आदि में प्रकट होता है। इसलिए ये परिवर्तन उस भाव के कार्य हैं। इस स्थायी भाव के साथ निर्वेद, ग्लानि इत्यादि जैसे कुछ अस्थायी भाव भी अनिवार्य रूप से रहते हैं और इसके सहचारी के रूप में मान्य हैं। यथार्थ जीवन में यही होता है।

किन्तु रंगमंच पर प्रदर्शित और दर्शक द्वारा अनुभूत स्थायी भाव के मामले में, वह स्थिति कारण नहीं मानी जा सकती जिसका सामना नाटक का नायक बना हुआ अभिनेता करता है। दर्शक द्वारा अनुभूत भाव का कारण भी उस स्थिति को नहीं माना जा सकता। न तो अभिनेता के लिए, और न ही दर्शक के लिए वह परिस्थिति उस रूप में प्रस्तुत होती है जिस रूप में वह उस मूल से संबद्ध थी जिसे नाटक में अभिनीत किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, सीता एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में जनक की पुत्री है। न तो अभिनेता और न ही दर्शक द्वारा उसे रति का विषय माना जा सकता है क्योंकि नायिका जिसके नाम को धारण किए हुए है, उस ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हुई श्रद्धा ऐसे किसी भाव के उदय को रोक देगी। इसके विपरीत इससे रति से भिन्न प्रकृति का ही भाव जाग्रत होगा। कारण की अनुपस्थिति में कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए अपने विशिष्ट प्रशिक्षण के कारण अभिनेता जिन मुख-चेष्टाओं और दूसरे हाव-भावों को प्रदर्शित करता है उन्हें रति नामक भाव का कार्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शारीरिक संकेतों और चेष्टाओं के रूप में अभिनेता द्वारा प्रदर्शित अस्थायी मनोदशाओं को भी स्थायी भाव का अनिवार्य सहचर नहीं माना जा सकता। परिस्थितिगत संबन्ध के इस भेद को बतलाने के लिए ही परिस्थिति को कारण, शारीरिक परिवर्तनों को कार्य, और अभिनेता द्वारा प्रस्तुत भाव के अनिवार्य सहचारी भावों को सहचारी नहीं कहा गया। इसके स्थान पर इन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव जैसे पारिभाषिक नाम दिये गए हैं।

(1) विभाव

विभाव शब्द उस भावोत्तेजक परिस्थिति के लिए प्रयुक्त होता है जिसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है और जो यथार्थ जीवन में नायक द्वारा प्रदर्शित उस भाव का कारण बनती है। किन्तु यहाँ उनमें कारण और कार्य का संबन्ध नहीं है अपितु मनोदशा के साथ माध्यम जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही जैसा किसी आध्यात्मिक माध्यम और उससे प्राप्त अनुभूति के बीच होता है।

ऐसा कैसे होता है ? प्रायः हम किसी बच्चे को छड़ी पर सवार होकर घुड़सवारी का-सा आनन्द लेते हुए देखते हैं। वह घुड़सवार के अधिकांश शारीरिक संकेतों और चेष्टाओं को प्रदर्शित करता है। वह लगाम कसता है, चाबुक मारता है और उसे कुदाता है। अब प्रश्न उठता है कि "क्या घुड़सवारी के इस अनुभव का कारण घोड़ा है ? और यदि ऐसा नहीं है तो घोड़े के अभाव में ऐसा अनुभव किस प्रकार हो सकता है ?" यह अनुभव उस माध्यम के कारण होता है जिसके सहारे बालक ऐसी चेष्टाएँ करने लगता है कि उसे अश्वारोहण का अनुभव होता है (क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः। स्वोत्साहः स्वदते तद्वत् श्रोतृणामर्जुनादिभिः।।

– **दशरूपक**)। रंगमंच पर प्रस्तुत परिस्थिति के विषय में भी यही होता है। यह केवल एक माध्यम है जिसकी सहायता से अभिनेता अपने-आपको एक विशेष भावदशा में ले जाता है और फलस्वरूप उस भाव के स्वाभाविक चिह्नों को प्रकट करता है।

'विभाव' शब्द का अर्थ वह नाटकीय परिस्थिति है जो कारण नहीं अपितु मात्र एक माध्यम है जिसकी सहायता से अभिनेता में भाव जाग्रत होता है। किन्तु दर्शक में भाव का कारण नायक के साथ तादात्म्य है। विभाव को विभाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह जिस प्रकार से भाव को जाग्रत करता है वह यथार्थ जीवन में भाव जाग्रत करने वाले प्रकार से सर्वथा भिन्न है[1]।

भाव का सदैव एक वस्तुनिष्ठ संदर्भ होता है। यह केवल बाह्य उद्दीपन की उपस्थिति में ही जाग्रत हो सकता है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व देश-काल में ही होता है; इसलिए देश और काल के तत्त्वों में और वस्तु में भेद होता है। इसी के अनुसार विभाव के दो पक्ष माने गए हैं :

(अ) आलम्बन – वह वस्तु जो भाव को जाग्रत करने का मुख्य कारण है, जो भाव का आधार है और जिस पर भाव अपनी सत्ता के लिए भी आश्रित है; और

(आ)उद्दीपन – वातावरण; वह संपूर्ण परिवेश जो भाव के केन्द्र बिन्दु अर्थात् उसे मुख्य रूप से उत्प्रेरित करने वाली वस्तु के भावात्मक प्रभाव को बढ़ाता है। उदाहरण के लिए हम **शाकुन्तलम्** का एक दृश्य लेते हैं। दुष्यन्त कण्व के तपोवन के निकट है। वह शकुन्तला को उसकी दो सखियों के साथ आश्रम की वाटिका में वृक्षों को सींचते हुए देखता है। शकुन्तला अपनी एक सखी से कहती है कि वह उसकी वल्कल-निर्मित कंचुकी को ढीला कर दे जिसे दूसरी सखी ने बहुत कसकर बाँध दिया है। दूसरी सखी तुरन्त उसका उपयुक्त उत्तर देती है : "मुझे दोष क्यों देती हो ? यह मेरा नहीं अपितु तुम्हारे उभरते यौवन का दोष है।" इस सारी बातचीत से शकुन्तला केन्द्र में आ जाती है और दुष्यन्त के प्रेम का पात्र बनती है। अतः वह आलम्बन-विभाव है और संपूर्ण वन-दृश्य एवं तपोवन की सुन्दर वाटिका, कोमल धूप और सखियाँ, जिनसे उसका सौन्दर्य बढ़कर और भी आकर्षक हो गया है, उद्दीपन-विभाव हैं।

(2) अनुभाव

भाव के उदय के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले सभी शारीरिक परिवर्तन, जिन्हें यथार्थ जीवन में भाव का कार्य माना जाता है, रस के संदर्भ में अनुभाव कहे जाते हैं। यथार्थ जीवन में भाव के कार्य-रूप शारीरिक परिवर्तनों से इनका भेद दिखलाने के लिए इन्हें यह नाम दिया गया है। इन्हें अनुभाव इसलिए कहा

गया है क्योंकि ये स्थायी भाव को रंगमंच पर उपस्थित पात्रों तक संप्रेषित करते हैं, नायक के भाव का स्वरूप बतलाते हैं, और इसलिए भी क्योंकि ये दर्शकों को उसी भाव का अनुभव कराते हैं (अनुभावयति)।

ये अनुभाव भी दो प्रकार के हैं : (1) इच्छाजन्य और (2) स्वयंजन्य। कुछ गतिविधियाँ या परिवर्तन भावयुक्त व्यक्ति द्वारा अभिप्रेत होते हैं। ये भाव की विमर्शित अभिव्यक्तियाँ हैं, जैसे नेत्रों और भँवों के परिवर्तन। वे व्यक्ति के संकल्प से उद्भूत होती हैं जिससे दूसरों तक अपना भाव संप्रेषित किया जा सके। ये इच्छाजन्य हैं। किन्तु व्रीड़ा, रोमांच, विवर्णता आदि कुछ अन्य परिवर्तन भाव के उदय के तुरन्त बाद स्वतः प्रकट होते हैं। वे स्वयंजन्य हैं। अभिप्रेत शारीरिक परिवर्तनों को मात्र अनुभाव कहते हैं जबकि स्वतःजन्य परिवर्तन सात्त्विक भाव कहलाते हैं। सात्त्विक भाव स्थायी भाव के अविनाभावी चिह्न हैं।

(3) भाव

'भाव' शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र में मनोदशा के अर्थ में हुआ है (भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः)। मानसिक दशाओं को भाव कहने के दो कारण हैं : (1) वे अभिनय के माध्यम से रस को अभिव्यक्त करती हैं, और (2) वे दर्शकों के मन को व्याप्त कर लेती हैं और उसे तीव्रता से प्रभावित करती हैं (नानाभिनय संबन्धात् भावयन्ति रसानिमान्। यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।। रसयोग्यान् चित्तवृत्तिविशेषान् भावयन्ति गमयन्ति बुद्धिविषयान् प्राप्नुवन्ति. इमान् सामाजिकान् भावयन्ति। इयमेव च अधिवासनात्मा भावना। **–अ॰भा॰**, I. 307)। पहला अर्थ नाटककार अथवा अभिनेता के संदर्भ में प्रासंगिक है और जब यह स्पष्ट करना हो कि मानसिक दशाएँ (भाव) दर्शक को किस प्रकार प्रभावित करती हैं तो दूसरा अर्थ अभिप्रेत है। ये भाव दो प्रकार के हैं : व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव।

(अ) व्यभिचारी भाव : ये अस्थायी भाव हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव इसलिए कहा जाता है क्योंकि विविध प्रकार के रसानुभवों में वे मानों दर्शक के आमने-सामने प्रस्तुत होते हैं और इसलिए भी, कि वे विविध रसों को दर्शक के सामने प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत कर देते हैं (विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान् रञ्जयन्तीति व्यभिचारिणः)।

(आ) स्थायी भाव : यह एक स्थायी अथवा मूलतः भावात्मक मनःस्थिति है। नाटक एक संपूर्ण क्रिया को प्रस्तुत करता है। क्रिया की संपूर्णता पाँच अवस्थाओं में होती है – (1) उद्देश्य का निर्धारण; (2) उसकी प्राप्ति के लिए यत्न; (3) वैपरीत्य; (4) बाधाओं पर विजय; और (5) उद्देश्य की सिद्धि। अपने भौतिक रूप में क्रिया एक

निश्चित मानसिक दशा से उद्भूत होती है और इस मानसिक दशा का उदय उस विशिष्ट परिस्थिति के कारण होता है जिसमें कर्ता अपने आपको पाता है। क्रिया की सभी अवस्थाओं में इस मानसिक दशा का बने रहना आवश्यक है अन्यथा क्रिया अकस्मात् बीच में ही समाप्त हो जाएगी। और भी मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। वस्तुतः अन्य मानसिक अवस्थाओं का उदय ही स्थायी भाव के कारण होता है। वे मानों स्थायी भाव के समुद्र में उठने और उसी में विलीन हो जाने वाली तरंगें हैं।

अब हम रससूत्र पर विभिन्न टीकाकारों के मतों की चर्चा करेंगे। भरत के मूल रससूत्र पर **नाट्यशास्त्र** के अनेक व्याख्याकारों ने टीकाएँ की हैं। उनके ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। एकमात्र उपलब्ध टीका अभिनवगुप्त द्वारा रचित **अभिनवभारती** है। इस टीका में अभिनव ने अपने पूर्ववर्ती तीन आचार्यों का उल्लेख करते हुए उनके रसविषयक मतों को प्रस्तुत किया है। ये टीकाकार हैं : भट्ट लोल्लट (नवीं शताब्दी ई॰ का प्रथम अथवा द्वितीय पाद), श्रीशंकुक (नवीं शताब्दी का दूसरा या तीसरा पाद) और भट्टनायक (दसवीं शताब्दी का दूसरा या तीसरा पाद)। इन टीकाकारों के मतों के अध्ययन से हमें अभिनवगुप्त से पूर्व के काल में रससंबन्धी चिन्तन के विकास की कुछ जानकारी मिल सकेगी। भट्ट लोल्लट **स्पन्दकारिका** के रचनाकार भट्ट कल्लट के समकालीन थे। भट्ट लोल्लट ने **नाट्यशास्त्र** और **स्पन्दकारिका**, दोनों ही पर टीका लिखी थी। इस प्रकार, उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से उत्तराधिकार में नाट्यशास्त्रीय और दार्शनिक, दोनों ही प्रकार की परम्पराएँ प्राप्त की थीं। अभिनवगुप्त ने रससूत्र पर उनके मत को निम्नलिखित शब्दों में उद्धृत किया है :

"तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायीभावस्त्वनुपचितः। स च मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसंधानबलात्।"

[विभाव, अनुभाव आदि के संस्पर्श से उपचित होकर स्थायीभाव उस उपचित अवस्था में रस बन जाता है। अनुपचित अवस्था में यह रस नहीं, अपितु स्थायी भाव ही है। यह स्थायी भाव प्रमुख रूप से अभिनेय राम आदि में रहता है और उनके साथ अभिनेता का तादात्म्य हो जाने के कारण अभिनेता में दिखलाई देता है।]

रस का निवास-स्थान कहाँ है ? इस प्रश्न के उत्तर में भट्ट लोल्लट का कहना है कि रस प्रधानतया उस मूल चरित्र, जैसे राम, में निवास करता है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जाता है। मूल चरित्र की अनुकृति करने वाले अभिनेता में इसका निवास गौण रूप में ही है। ऐसा कैसे होता है ? इसका उत्तर यह है कि अभिनेता उस ऐतिहासिक चरित्र से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और

इसलिए वह अपने अनुभव के तत्त्वों को एकीकृत कर पाता है जिससे ऐसे मानसिक बिम्ब उत्पन्न होते हैं जो मूल नायक के बिम्बों से सब प्रकार से मेल खाते हैं।

भट्ट लोल्लट का दृष्टिकोण रस-संबन्धी परम्परागत दृष्टिकोण के अनुरूप है। दण्डी एवं अन्य आचार्यों का भी यही मत रहा है और इसमें मौलिक कुछ भी नहीं है। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे चुनौती दी जा सके। फिर भी सैद्धान्तिक आधारों पर श्रीशंकुक ने इस मत पर आक्षेप किया है।

श्रीशंकुक कश्मीर के थे और भट्ट लोल्लट के कनिष्ठ समकालीन थे। उन्होंने **नाट्यशास्त्र** पर टीका लिखी थी। उन्होंने रससूत्र का अध्ययन रंगमंच पर प्रदर्शित रस की उत्पत्ति की दृष्टि से किया था। उनके अनुसार लोल्लट का रस-संबन्धी मत दर्शक के अन्तःकरण में उद्भूत होने वाले रस के संदर्भ में उपयुक्त नहीं है। रस के मुख्य विधायक तत्त्व अर्थात् स्थायी भाव को सीधे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। फिर वह दर्शक के मन में किस प्रकार प्रविष्ट होता है ? इसे परम्परागत भाषा द्वारा संप्रेषित नहीं किया जा सकता और जब तक दर्शक के मन तक स्थायी भाव का संप्रेषण न हो, रसास्वाद संभव नहीं। स्थायी भाव शुद्ध रूप से एक मानसिक अवस्था है और विभावादि अन्य तत्त्वों की भाँति इसका अनुभव सीधे तौर पर संभव नहीं है। इसलिए वे अनुमितिवाद की स्थापना करते हैं। श्रीशंकुक के अनुसार प्रत्यक्ष-रूप में गृहीत विभावादि से स्थायीभाव का अनुमान वैसे ही होता है जैसे वृक्षसमूह में छिपी अग्नि का अनुमान धूम से होता है। किन्तु अभिनेता में स्थायी भाव अप्रत्यक्ष अनुकृति रूप है। विषयरूप रस के अन्य विधायक तत्त्व अभिनेता द्वारा बहुत स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं; अर्थात् विभाव को सजीव काव्य-वर्णन से, अनुभावों को प्रशिक्षित अभिनय के प्रदर्शन से, और व्यभिचारी भावों को यथाकथंचित अपने अतीत अनुभव की स्मृति से उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु ऐसे किसी उपाय द्वारा स्थायी भाव को प्रस्तुत करना संभव नहीं; उसका तो अनुमान ही करना होता है और चूँकि यह अप्रत्यक्ष अनुकृति का विषय है अतः इस अप्रत्यक्ष अनुकृति के तथ्य को व्यक्त करने के लिए इसे अनुमान न कह कर 'रस' का नाम दिया गया है। श्रीशंकुक के सिद्धान्त को निम्नांकित प्रकार से कहा जा सकता है :

रंगमंच पर दृश्य-विधान आदि अभिनेता के सफल अभिनय के साथ मिलकर अनुकार्य नायक के साथ अभिनेता के अभेद के बोध को जन्म देते हैं। यह बोध भ्रान्ति अथवा संशय नहीं है। इसे सत्य अथवा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यह उस प्रतीति के सदृश है जो किसी अश्व-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष के सजीव चित्र को देखकर उत्पन्न होती है और हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'यह वही

अश्व अथवा व्यक्ति है' (चित्रतुरगन्याय)। इस प्रकार दर्शक अभिनेता को नायक-विशेष मानकर पूर्वोक्त रीति से विभावादि के द्वारा स्थायीभाव का अनुमान कर लेता है। वास्तविक नायक जैसे राम आदि के वास्तविक भाव की अनुकृति होने के कारण और मनोहारी स्थिति से संबन्धित होने के कारण यह अनुमित स्थायी भाव विशेष रूप से आकर्षक हो जाता है और सहृदय के मानस की एक आस्वाद्य दशा के रूप में विकसित होता है। अपनी आस्वाद्यता के कारण इसे रस कहा जाता है[2]।

श्रीशंकुक के अनुसार स्थायी भाव का ज्ञान केवल अनुमान से ही होता है। भरत द्वारा अपने सूत्र में 'स्थायिन्' का उल्लेख न किये जाने के पीछे श्रीशंकुक के मत में यही कारण है। इसलिए श्रीशंकुक की व्याख्या के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि विभावादि से अनुमित स्थायी भाव ही रस है (विभावानुभावव्यभिचारिभ्यः स्थायिनः संयोगात् –अनुमानात् –रसस्य निष्पत्तिः –अनुमानजन्या प्रतीतिः)। 'स्थायिन्' शब्द का समावेश न करना अकारण नहीं है। इसका आशय यह है कि दर्शक की चेतना के स्थायी घटक के रूप में स्थायी भाव के बोध का स्वरूप विभावादि के बोध के स्वरूप से भिन्न है। विभावादि का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, किन्तु स्थायी भाव केवल अनुमानगम्य है।

श्रीशंकुक के सिद्धान्त का विरोध शीघ्र ही अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत ने किया। श्रीशंकुक कला को अनुकृति मानते थे। आलोचक का प्रश्न था : किसके दृष्टिकोण से कला अनुकृति है ? दर्शक के या अभिनेता के अथवा समीक्षक के ? इनमें से किसी के भी दृष्टिकोण से कला को अनुकृति नहीं कहा जा सकता। किसी क्रिया को अनुकृति कहने के लिए हमें अनुकार्य क्रिया और अनुकरण की क्रिया, दोनों ही का ज्ञान प्राप्त करना होगा। उदाहरण के लिए, जब हम किसी व्यक्ति को इस प्रकार जल पीते हुए देखते हैं जिस प्रकार दूसरा व्यक्ति मदिरा पीता है तो हम कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति की जल पीने की क्रिया दूसरे व्यक्ति की मदिरापान की क्रिया की अनुकृति है। किन्तु एक व्यक्ति द्वारा अनुभूत मानसिक दशा को हम दूसरे व्यक्ति की मानसिक दशा की अनुकृति नहीं कह सकते क्योंकि मानसिक दशा को इस प्रकार देखा नहीं जा सकता। अभिनय आदि के द्वारा अभिनेता की मनःस्थिति का अनुमान तो हो सकता है किन्तु उससे हम यह नहीं कह सकते कि अभिनेता के अभिनय से राम की मनःस्थिति का अनुमान हो सकता है। दूसरे, दर्शक के दृष्टिकोण से इसे अनुकृति इसलिए भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दर्शक इसे राम की मनःस्थिति की अनुकृति के रूप में नहीं देखता। यदि वह इसे राम की मनःस्थिति के अनुकरण के रूप में देखे तो इसके साथ उसका तादात्म्य कदापि नहीं हो सकेगा। और वह मूल मनःस्थिति का आनन्द

न ले सकेगा क्योंकि वह मान चुका है कि वह मात्र अनुकरण ही देख रहा है। यदि आप कहें कि क्रोध का अभिनय करने वाला अभिनेता वस्तुतः या तथ्यतः क्रुद्ध नहीं है अपितु केवल वैसा दिखलाई दे रहा है तो हम यह नहीं कह सकते कि वह राम या किसी अन्य व्यक्ति-विशेष की भाँति क्रुद्ध है। इसका अर्थ इतना ही है कि वह एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति से प्रभावित मनुष्य जैसा अभिनय कर रहा है, और यह स्थिति सभी क्रुद्ध व्यक्तियों में समान होने के कारण अनुकृति नहीं कहला सकती क्योंकि यह अभिनेता की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति है। इसलिए यह न तो दर्शक के और न ही अभिनेता के दृष्टिकोण से, अनुकृति है। मूल चरित्र के दृष्टिकोण से भी इसे अनुकृति नहीं कह सकते क्योंकि उसे किसी ने कभी देखा नहीं है।

इसलिए भट्ट तौत का मानना है कि रस न तो स्थायी भाव का उपचय है (जैसा भट्ट लोल्लट मानते हैं) और न ही यह उसका अनुमान है (जैसा श्रीशंकुक मानते हैं)। तो फिर प्रश्न उठ सकता है कि यह किसके सदृश है। भट्ट तौत कहते हैं कि यह अनुकृति नहीं, अपितु अनुव्यवसाय है (अर्थात् व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति में कैसे व्यवहार करता है इसे प्रदर्शित करने की शैली)। यह अनुभावन है जिसका अर्थ है किसी विशेष मनःस्थिति को प्रदर्शित या प्रस्तुत करने के लिए विशिष्ट प्रकार से अभिनय करना। यही कारण है कि भरत ने इसे लोकवृत्तानुकरण कहा है। यह अनुकरण किसी व्यक्तिविशेष का नहीं है अपितु जीवन में एक विशेष प्रकार के व्यवहार का प्रस्तुतीकरण है।

अनुकरण वस्तुतः अनुव्यवसाय है जिसका अर्थ है समरूप प्रतिक्रिया। भट्ट तौत आगे कहते हैं कि अश्व-विशेष के चित्र का दृष्टान्त (चित्रतुरगन्याय) भी यहाँ लागू नहीं होता। इसलिए रस को मात्र अनुकृत स्थायीभाव मानने वाला श्रीशंकुक का सिद्धान्त असंगत है क्योंकि स्थायीभाव का अनुकरण किसी भी प्रकार संभव नहीं।

अभिनवभारती में सांख्य दर्शन पर आधारित एक सिद्धान्त का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विभावादि और स्थायी भाव में कार्य-कारण संबन्ध है। इसके अनुसार स्वयं स्थायी भाव ही रस है। यह न केवल अनुभव के विपरीत है अपितु भरत के ग्रन्थ के भी विपरीत है और इसलिए अस्वीकार्य है।

हमने अभी तक स्थायी भाव के बोध के विषय में दो सिद्धान्तों का अध्ययन किया : अनुमान का सिद्धान्त, जो न्याय दर्शन पर आधारित है और सांख्य का रस-संबन्धी सिद्धान्त। दोनों ही सिद्धान्तों के विषय में एक समान प्रश्न पूछा जा सकता है : क्या स्थायी भाव का बोध अभिनेता में होता है या दर्शक में ? दोनों में से कोई भी पक्ष संतोषजनक नहीं हो सकता। सांख्य के मत को मानने पर

यह बोध सामान्य लौकिक प्रतीतियों से भिन्न नहीं होगा; अतः यह केवल सामान्य मनोवृत्तियों और प्रतिक्रियाओं को ही उत्पन्न करेगा जो रसास्वाद में बाधक होंगी। न्याय वाले मत में दर्शक उसका आस्वाद नहीं ले सकेगा क्योंकि वह तो केवल अनुमान का विषय है। इसलिए भट्टनायक इन दोनों मतों का खंडन करते हैं और मानते हैं कि स्थायी का बोध न तो अनुमान से होता है और न ही वाचिक अभिनय से। वे रस को अभिव्यङ्ग्य मानने वाले आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं। इसलिए वे एक नई शैली का उपयोग करते हैं जो लौकिक अनुभव पर लागू नहीं होती और केवल कला के प्रसंग में ही देखी जाती है।

इस विषय के अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति भट्टनायक का भी यह मानना है कि रसानुभव का कारण नाट्य-प्रस्तुति का वस्तुनिष्ठ प्रत्यक्ष है। किन्तु अपने पूर्ववर्तियों से उचित ही मतभेद रखते हुए वे मानते हैं कि भावक व्यक्ति और भाव्य वस्तु, दोनों ही वैयक्तिकता की सभी सीमाओं से मुक्त होते हैं। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली प्रमातृनिष्ठ अवस्था, उनके अनुसार, आत्मा की अपने आपमें पूर्ण विश्रान्ति की अवस्था है। इस अवस्था में सत्त्व की प्रधानता है और रजस् एवं तमस् पूर्णतया पृष्ठभूमि में होते हैं। अतः इस अवस्था में सभी शारीरिक, मानसिक और सांकल्पिक क्रियाओं का अभाव होता है और आत्मा चेतना में प्रविष्ट हो सकने वाले सभी पदार्थों के प्रति सभी प्रकार के राग और द्वेष से मुक्त होता है।

उनके मत में काव्य-भाषा की तीन शक्तियाँ हैं : (1) अभिधा श्रोता के मानस में शब्द के साथ जुड़े रूढ़ बिम्ब को जाग्रत करने वाली शक्ति है। (2) भावकत्व वह शक्ति है जो प्रस्तुत की गई रस-वस्तु (नाट्य-प्रदर्शन) को उन सभी संबन्धों से मुक्त करती है जो सामान्य जीवन में किसी सदृश वस्तु से जुड़े हैं। इसलिए यह उसे साधारणीकृत करती है। (3) भोजकत्व वह शक्ति है जो पाठक अथवा दर्शक के रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण को प्रधानतया प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार भोजकत्व के व्यापार द्वारा सत्त्वगुण प्रधानता प्राप्त करता है। भावकत्व शक्ति प्रमाता और प्रमेय को सभी परिच्छेदक निमित्तों से मुक्त करती है। इसलिए प्रस्तुत रचना की एक सामान्यरूप अभिज्ञा अथवा चेतना की अवस्था का उदय होता है जो आध्यात्मिक ब्रह्म-अनुभव के सदृश है[3]। यह सांकल्पिक, मानसिक और शारीरिक क्रियाओं से मुक्त एक चेतन अवस्था है। अतः यह ब्रह्मानन्द के सदृश है। किन्तु यह आध्यात्मिक ब्रह्मानुभव से भिन्न भी है क्योंकि यह एक परिमित अनुभव है और साधारणीकृत वस्तु अभी भी साधारणीकृत कर्ता (सहृदय) को प्रभावित करती है। यह प्रत्यक्ष या स्मृति आदि के द्वारा प्राप्त सामान्य अनुभव नहीं है क्योंकि यह सविकल्प ज्ञान नहीं है। किन्तु यह निर्विकल्प भी नहीं है क्योंकि

रसानुभव की स्मृति बाद में भी होती है। अतः भट्टनायक के अनुसार रसानुभव साधारणीकृत कर्ता द्वारा सत्त्व की प्रधानता के कारण पूर्ण आनन्द की अवस्था में साधारणीकृत विषयरूप रस का अनुभव है।

भट्टनायक का सिद्धान्त रस की समस्या को सुलझाने के लिए, काव्य-भाषा की भावकत्व-शक्ति के कारण होने वाले साधारणीकरण की अवधारणा का आश्रय लेता है जिसके परिणामस्वरूप आनन्दमय सत्त्वावस्था का उदय होता है जिसे भट्टनायक ने भोजकत्व कहा है। यह सिद्धान्त सांख्य की गुणसम्बन्धी और वेदान्त की आनन्द एवं भोग की अवधारणा पर आधारित है। सामान्य जीवन प्रत्येक बिन्दु पर सत्त्व, रजस् और तमस् के त्रैगुण्य द्वारा संचालित होता है। ये तीनों गुण मिलकर अविद्या अथवा प्रकृति के विधायक हैं। कभी-कभी इनमें से कोई एक गुण अन्य दो पर प्रधानता प्राप्त कर लेता है। सत्त्व की प्रधानता आनन्द, रजस् की प्रधानता दुःख और तमस् की प्रधानता मोह है। जब तक त्रैगुण्य से निर्मित वैयक्तिकता रहती है तब तक शुद्ध आनन्द की अवस्था संभव नहीं है।

दृश्य जगत् की सृष्टि का कारण स्पष्ट करने के लिए वेदान्त द्वारा स्वीकृत विश्वात्मा माया अथवा सत्त्वप्रधान प्रकृति से संबद्ध है। इस अवस्था में ब्रह्म को मायोपहित चैतन्य कहते हैं। माया तीन गुणों से निर्मित है। किन्तु इस अवस्था में सत्त्व की प्रधानता रहती है। इस अवस्था की शुद्धता रजस् और तमस् नामक गुणों की पूर्ण निष्क्रियता के कारण है। सत्त्वप्रधान माया विश्वात्मा का आनन्दमय कोश है। इसलिए आनन्द सुख से भिन्न है। आनन्द आत्मा की विश्वात्म अवस्था से संबद्ध है जबकि सुख का संबन्ध जीव-अवस्था से है।

भोग का उदय बुद्धि के धरातल पर प्रमाता और प्रमेय वस्तु के मिलन से होता है। प्रमाता का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर भीतर से पड़ता है और प्रमेय का प्रतिबिम्ब बाहर से पड़ता है। अहंकार उन्हें बुद्धि के धरातल पर जोड़ता है। इसी का परिणाम ज्ञान है जो 'मैं यह जानता हूँ' इस रूप में उत्पन्न होता है। वस्तुतः प्रमेय का प्रतिबिम्ब बुद्धि में प्रमाता के प्रतिबिम्ब में विलीन हो जाता है। किन्तु इसे प्रमेय के प्रतिबिम्ब का प्रमाता में विलय माना जाता है प्रमाता के प्रतिबिम्ब में नहीं, क्योंकि अहंकार के कारण जीव यथार्थ आत्मा और उसके बुद्धिगत प्रतिबिम्ब के बीच भेद को नहीं जान पाता और प्रमेय द्वारा आत्मा के प्रतिबिम्ब के प्रभावित होने को वह यथार्थ आत्मा पर ही आरोपित कर देता है। इस मिथ्या आरोप को भोग कहा जाता है। भट्टनायक के कथन "रसः.....भोगेन.....भुज्यते" का तात्पर्य यह है कि रस का अनुभव ब्रह्माण्ड स्तर के भोग की भाँति होता है अर्थात् प्रदर्शित विषयरूप रस आत्मा के बुद्धिगत प्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्बित होता है। अतः ब्रह्माण्ड स्तर पर भी प्रमाता और विषयरूप रस का संबन्ध प्रमाता-प्रमेय-संबन्ध है।

संक्षेप में, भरत से लेकर भट्ट लोल्लट तक रसशास्त्र का अध्ययन कलाकार के दृष्टिकोण से हुआ है। इसका प्रयोजन यह दिखलाना था कि नाटक को कैसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि दर्शक रसानुभव प्राप्त कर सके। लोल्लट के कनिष्ठ समकालीन श्रीशंकुक ने दर्शक के दृष्टिकोण से रसानुभव की व्याख्या की। वे न्याय दर्शन से प्रभावित थे और उन्होंने न्याय के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की दृष्टि से समस्या का अध्ययन किया। इस बात की आलोचना भट्टनायक ने की जो वेदान्त और सांख्य दर्शन से प्रभावित थे। उनका यह मानना उचित ही था कि रस का अनुभव साधारणीभूत स्तर पर होना चाहिए, व्यक्ति-स्तर पर नहीं। इसलिए उन्होंने प्रस्तुत की गई रचना के साधारणीकरण की प्रक्रिया का आश्रय लिया। किन्तु वे रसानुभव के प्रमातृनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ पक्षों के मूल स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सके और उन्हें भावकत्व और भोजकत्व की अनावश्यक शक्तियों की कल्पना करनी पड़ी। सांख्य और वेदान्त से उन्हें वह दृष्टिकोण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रविधि नहीं मिल सकी जिसकी आवश्यकता रसानुभव को अपने संपूर्ण रूप में स्पष्ट करने के लिए थी। शैवाद्वैत में उपलब्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अभिनवगुप्त यह कार्य सफलतापूर्वक कर सके।

जैसा हम आगे देखेंगे, रसानुभव की धारणा को लेकर भट्टनायक और अभिनवगुप्त के बीच कोई मूल अन्तर नहीं है। अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि उनकी आलोचना प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त का शोधन मात्र है। यह विशेष रूप से निम्नलिखित तीन बिन्दुओं पर है : (1) रस का अनुभव नाट्य-प्रदर्शन के वस्तुनिष्ठ प्रस्तुतीकरण के कारण नहीं अपितु नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य होने के कारण होता है। (2) अभिनवगुप्त प्रदर्शन के साधारणीकरण का स्पष्टीकरण मनोवैज्ञानिक तथ्यों के माध्यम से करते हैं और भाषा की एक नई शक्ति 'भावकत्व' की कल्पना करके उसकी यथाकथंचित् व्याख्या का प्रयास नहीं करते। (3) अभिनव यह स्वीकार करते हैं कि अन्ततः रस के अनुभव तक पहुँचाने वाली ज्ञान-प्रक्रिया लौकिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि में निहित ज्ञान-प्रक्रिया से भिन्न है। वे उसे मनोवैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट करते हैं और भोजकत्व नामक तीसरी शक्ति की परिकल्पना को अनावश्यक मानते हैं। इसलिए अब हम अभिनवगुप्त की ओर मुड़ें।

(ख) अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात रसानुभव

हम शैवाद्वैत के दर्शन और आभासवाद के प्रवर्गों का अध्ययन कर चुके हैं। हमने वहाँ देखा कि दूसरा प्रवर्ग अर्थात् शक्ति चैतन्यरूप है अर्थात् यह आत्म-परामर्श की सामर्थ्य है। अभिनवगुप्त रसानुभव को शक्ति के इस स्तर के समकक्ष रखते हैं। वे कहते हैं कि अपने सार-रूप में रसानुभूति निर्बाध चेतना में प्रतीत होने वाले स्थायी भाव से भिन्न नहीं है (वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः)। वे यह भी कहते

हैं कि यह निर्बाध चेतना 'चमत्कार' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चमत्कार 'स्पन्द' में लीन प्रमाता की एक क्रिया है और 'स्पन्द' एक अद्भुत 'भोग' है (भुञ्जानस्य अद्भुतभोगात्मकस्पन्दाविष्टस्य)।

चमत्कार, भोग और स्पन्द अभिनवगुप्त के दर्शन में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। उनके निहितार्थ को समझ लिया जाए :

चमत्कार : सामान्य व्यवहार में चमत्कार को आनन्द कहा जाता है जो किसी आनन्दात्मक अवस्था की प्राप्ति पर होने वाली अनुभव-क्रिया है। यह लौकिक चमत्कार है। यह वस्तु पर निर्भर है और निर्बाध नहीं है। फिर भी, इसमें अनुभूत आनन्द का अंश क्षण भर के लिए होंने वाले आत्मपरामर्श के कारण है। उदाहरण के लिए, सुरुचिपूर्ण भोजन की समझ रखने वाला व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन का रस लेता है; वह उसे केवल निगलता नहीं है। वह स्वाद-विशेष से प्रभावित अपने प्रमातृनिष्ठ पक्ष पर आश्रित होता है और इसलिए प्रसन्न है। वह क्षण भर के लिए 'आनन्द' का अनुभव करता है। अपने प्रमातृनिष्ठ रूप में विश्रान्ति की इस स्थिति में व्यक्ति को शास्त्रीय शब्दावली में 'भुञ्जान' कहते हैं। इसी प्रकार रंगमंच पर प्रदर्शित किसी उत्तम नाटक को देखने पर सहृदय मनुष्य आत्मविश्रान्ति की स्थिति में पहुँच जाता है। इन दोनों स्थितियों में अन्तर यह है कि सामान्य जीवन में आस्वाद्य-विषय का संबन्ध जिस भोक्ता के साथ होता है उसका तादात्म्य अपने ऐन्द्रिक पक्ष से हो चुका है जबकि रसानुभव के विषय में वस्तुनिष्ठता सर्वथा नष्ट हो जाती है। स्थायी भाव जो केवल अवचेतन है, विषयरूप में प्रतीत नहीं होता। यह नाटक के नायक के साथ संबद्ध नहीं है। यह तो बस 'वासना' का उद्‌बोध है जो फिर से अपनी पृष्ठभूमि में विलीन हो जाती है। रस के अनुभव में, अनुभूति करने वाला प्रमाता भी किसी भी 'निजता' से मुक्त होता है।

इस प्रकार रसानुभव में वस्तुनिष्ठ चेतना संपूर्णतया निवृत्त हो जाती है। इसमें विमर्श की प्रधानता होती है और इसका सतत संबन्ध साधारणीकृत चेतना से है जिसे रसना, चर्वणा, निर्वृति, प्रमातृविश्रान्ति और चमत्कार कहा गया है। यह 'चमत्कार' रस, आनन्द और परमभोग का समानार्थक है।

चमत्कार का विवेचन अभिनव ने **प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** में किया है। वहाँ वे कहते हैं : "अधिक जानने के इच्छुक इस विषय में मेरी **नाट्यवेदविवृति** में देखें।" इससे स्पष्टतः सूचित होता है कि अभिनवगुप्त के अनुसार चमत्कार विमर्श है; अर्थात् यह शक्ति के स्तर का अनुभव है और काव्यशास्त्र में भी वे इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं।

भोग : व्यक्ति के प्रसंग में 'भोग' का अर्थ है सुख, दुःख एवं जड़ता का अनुभव जो क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप हैं। इस अनुभव का कारण व्यक्ति-प्रमाता

को होने वाली वैयक्तिकता की अभिज्ञा है जिसे शास्त्रीय भाषा में अज्ञान कहते हैं। अपने मूल स्वरूप अर्थात् महेश्वर के साथ अपने तादात्म्य का विस्मरण ही यह अज्ञान है।

'भोग' के संदर्भ में परमतत्त्व को महेश्वर कहते हैं। महेश्वर सभी चेतनाधारियों का आत्मचैतन्य है। वह व्यक्ति-चेतना का योगफल मात्र नहीं है। इसके विपरीत, वह एक अविच्छिन्न आत्म-चैतन्य है जो अपने आप में प्रतिबिम्बित और इसलिए अपने साथ अभिन्न रूप में प्रकाशित इदन्ता (यह) के सभी रूपों का अनुभव करता है। उसका अनुभव 'मैं यह हूँ' (अहमिदम्) के रूप में है। इस प्रकार उसका 'यह' का अनुभव अपने से बाह्य नहीं है अपितु उसकी अपनी ही अभिव्यक्ति है।

वह 'यह' के रूप में उल्लिखित संपूर्ण अनेकत्व को अपने ही भीतर प्रदर्शित करता है। और इसलिए, वह पूर्ण है क्योंकि संपूर्ण 'इदंजगत्' उसके भीतर है और उससे अभिन्न रूप में प्रकाशित होता है, उससे बाह्य रूप में नहीं :

"एक एव चिदात्मा स्वातन्त्र्येण स्वात्मनि यतो वैश्वरूप्यं भासयति 'ततो महेश्वरोऽन्तर्नीतमिदन्तां कृत्वा परानुन्मुखस्वात्मविश्रान्तिरूपविमर्शपरिपूर्णः। (ई॰प्र॰वि॰वि॰, 2 — 251)।"

अभिव्यक्ति की प्रक्रिया सामान्य के विशेषीकरण की प्रक्रिया है। और सामान्य के विशेषीकरण का अर्थ है पृथक्ता, विविधता और परिमितता। इसका अर्थ है एकत्व का अनेकत्व में विभाजन, एक विषयजगत् ('यह') का अनेक ('ये') में विभाजन। जब ऐसा होता है तो महेश्वर की शक्तियाँ अर्थात् ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और मायाशक्ति परिसीमित हो जाती हैं और सत्त्व, रजस् और तमस् नामक गुण बन जाती हैं। ये गुण सुख, दुःख और जड़ता के अनुभवरूप भोग में परिणत हो जाते हैं। व्यक्ति के प्रसंग में यह भोग सदैव वस्तुनिष्ठ है किन्तु महेश्वर के संदर्भ में इदन्ता का स्वतः कोई वस्तुनिष्ठ संदर्भ नहीं है क्योंकि वहाँ भोक्ता और भोग्य का तादात्म्य है (एष एव हि भोगो यत् तादात्म्यं भोक्तृभोग्ययोः)। इसलिए महेश्वर का भोग व्यक्ति के भोग से भिन्न है और इसे परमभोग कहा गया है।

अब हम भट्टनायक और अभिनवगुप्त के भेद को भली-भाँति समझ सकते हैं। भट्टनायक के अनुसार रसानुभव का कारण सत्त्व की प्रधानता है। किन्तु शैव और वेदान्त, दोनों ही के अनुसार, सत्त्व और अन्य गुण माया के उत्पाद हैं। अतः भट्टनायक के अनुसार रस का अनुभव माया के क्षेत्र में आता है। जबकि अभिनवगुप्त के अनुसार यह लोकोत्तर अनुभव है। माया के क्षेत्र से इसका संबन्ध नहीं है। यह सभी गुणों से मुक्त है। यह विश्वात्मा का स्वात्म का अनुभव है। यह परमतत्त्व के एक रूप की दूसरे में विश्रान्ति है। यह सभी बाह्य संदर्भो

से मुक्त चैतन्य है जो अपने से अभिन्न-रूप आत्मा में विश्रान्त रहता है और इस प्रकार यह 'आनन्द' है।

स्पन्द : स्पन्द शब्द भी शक्ति के ही स्तर से संबन्ध रखता है। शैव आचार्य परतत्त्व की स्वातन्त्र्य शक्ति को अनेक दृष्टियों से देखते हैं और इसे अनेक नाम देते हैं। यह चैतन्य है क्योंकि इसमें अपने भीतर स्थित जगत् के एकीकरण और विभाजन की एवं अन्य अनेक प्रकार से व्यवहार करने की शक्ति है। इसे स्पन्द साहित्य में स्फुरत्ता अथवा स्पन्द कहा गया है क्योंकि यह विश्व चैतन्य का वह तात्त्विक स्वरूप है जो पूर्ण अद्वैत की अवस्था से इसके आभासित परिवर्तन का कारण है। जो कुछ भी जिस किसी भी रूप में अस्तित्वयुक्त कहा जा सकता है यह उसका कारण है, अतः इसे महासत्ता कहा गया है। इसके लिए एक और शब्द 'परावाक्' का भी प्रयोग कभी-कभी किया जाता है क्योंकि यह वाणी का सूक्ष्मतम रूप है।

अनुभव के स्तर

अभिनवगुप्त के अनुसार रसानुभव का संबन्ध आध्यात्मिक अनुभव के दूसरे स्तर, अर्थात् शक्ति, आनन्द, विमर्श या स्पन्द के स्तर से है। मोटे तौर पर, वे अनुभव के पाँच स्तर मानते हैं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत। इन अवस्थाओं का भेद प्रमुख रूप से प्रमाता की अवस्था पर निर्भर है। अनुभव के इन पाँच स्तरों में प्रथम तीन का संबन्ध व्यक्ति-प्रमाता से है जबकि अन्तिम दो विश्व-प्रमाता से संबद्ध हैं।

इनमें प्रथम दो, अर्थात जाग्रत् और स्वप्न सुविदित हैं और इनकी व्याख्या अनावश्यक है। सुषुप्ति (गहन निद्रा) के विषय में परिमित प्रमाता का अनुभव इस प्रकार का होता है : 'मुझे कुछ पता नहीं चला, मैं अच्छी तरह सोया (सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्)।' अभिनव कहते हैं कि इस वाक्य में वर्णित अनुभव के दो पक्ष हैं : एक निषेध वाला अनुभव है और साथ ही सुख का अनुभव भी है। इसलिए सुषुप्ति में प्रमाता के दो स्तर सूचित होते हैं : एक, जिसमें ज्ञान का पूर्ण निषेध है और दूसरा, जिसमें विश्राम या सुख का अनुभव है। सुषुप्ति की ये दो अवस्थाएँ क्रमशः अपवेद्य सुषुप्ति और सवेद्य सुषुप्ति के नाम से जानी जाती हैं।

अपवेद्य सुषुप्ति एवं तुर्या का भेद उन स्तरों का भेद है जिनका अनुभव प्रमाता इन दो अवस्थाओं में करता है। अपवेद्य सुषुप्ति में 'मैं' (अहम्) अर्थात् आत्मा अपना तादात्म्य शून्य के साथ कर लेता है और इसलिए वह प्रकाशित नहीं होता जबकि तुर्या में तमस् का आवरण लुप्त हो जाता है और आत्मा सत्त्व के प्रकाश में प्रकाशित होता है। दोनों के भेद का आधार यह है कि सुषुप्ति में विषय की प्रधानता है किन्तु तुर्या में स्थिति एकदम उलट जाती है, अर्थात् प्रमाता प्रधान हो जाता है।

सुषुप्ति में आणव मल बना रहता है जबकि तुर्या में वह अस्थायी रूप से नष्ट हो जाता है और विषय की स्थिति गौण हो जाती है।

तुर्यातीत : तुर्या में विषय प्रमाता के प्रति गौण होता है क्योंकि प्रमाता अपने नित्य, पूर्ण और स्वयंप्रकाश यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है। किन्तु तुर्यातीत में वह मात्र प्रधान नहीं होता अपितु वस्तुनिष्ठ स्थिति से मानों ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार तुर्यातीत अवस्था भी दो प्रकार की है : (1) वह जिसमें विषयता अवचेतन में बनी रहती है, और (2) वह जिसमें विषयता का संपूर्ण अभाव होता है। पहली को व्यतिरेक तुर्यातीत और दूसरी को अव्यतिरेक तुर्यातीत कहते हैं। दूसरी अवस्था चरम अवस्था है जहाँ से नीचे नहीं उतरना पड़ता।

अब हम रसानुभव की प्रक्रिया का अध्ययन करके देखेंगे कि यह अनुभव के कौन से स्तर पर ठहरता है।

ऐन्द्रिय स्तर से विश्वातीत स्तर तक

अभिनवगुप्त रसानुभव का विश्लेषण ऐन्द्रिय स्तर से आरंभ करते हैं। वे कहते हैं कि रस का अनुभव नेत्रों और कानों को प्रीतिकर लगनेवाले पदार्थों के प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है। यही दो इन्द्रियाँ, उनके अनुसार, रस-संबन्धी इन्द्रियाँ हैं क्योंकि नाटक एक ही समय में अनेक व्यक्तियों के नेत्रों और कानों को आकर्षित करता है : दृश्यं श्रव्यं चेत्येकवचनेन सर्वसाधारणतया एव यद् योग्यम् तच्च स्पृश्यादिरूपं न भवति। दृश्यश्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्तिः। (अ.भा., I. 90)

किन्तु वे सुन्दर वस्तु को रसानुभव का माध्यम मात्र ही मानते हैं विषय नहीं। रसानुभव अनुभवकर्ता की रसानुभव-संबन्धी इन्द्रियों के विषय का मात्र मानसिक चित्र नहीं है जिसका मूल्यांकन वह सुख और दुःख के संदर्भ में करता है। एक सामान्य व्यक्ति सुखद इन्द्रियानुभव से संतुष्ट होकर उसे ही रसानुभव मान सकता हैं किन्तु सच्चा सहृदय किसी वस्तु को केवल इसलिए सुन्दर नहीं मानेगा कि वह उसकी इन्द्रियों को सुख देती है और इसके अलावा कुछ नहीं करती। रसानुभव से अभिनव का तात्पर्य निर्मल प्रतिभा से संपन्न सहृदय के अनुभव से है (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदयः)।

वास्तविक सौन्दर्य-वस्तु रसानुभवसंबन्धी इन्द्रियों को ही उत्प्रेरित नहीं करती। वह प्रधानतया दर्शक की कल्पना-शक्ति को उत्प्रेरित करती है। यह अवश्य है कि यह उत्प्रेरण इन्द्रियानुभव के माध्यम से होता है। दर्शक की इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित वस्तु चित्र की मात्र एक स्थूल रूपरेखा है जिसे वह उसकी सभी बारीकियों के साथ अपनी कल्पनाशक्ति से पूरा करता है। इसलिए रसानुभव का दूसरा स्तर कल्पनात्मक है।

इस स्तर पर सहृदय का व्यक्तित्व बदल जाता है। उसका संबन्ध इन्द्रियग्राह्य प्रस्तुतीकरण से न रहकर कल्पनागृहीत विषय से होता है। इस अवस्था में वह इस ऐहिक लोक में नहीं है अपितु एक भिन्न लोक में है जो उसकी अपनी सृष्टि है। उस लोक में उसकी भेंट नाटक के उस व्यक्तित्व से होती है जो समग्र इकाई का केन्द्रबिन्दु है। इसमें कुछ भी अस्वीकार्य नहीं है। इसलिए वह धीरे-धीरे क्रमशः इसके साथ तादात्म्य बना लेता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का स्थान नायक का व्यक्तित्व ले लेता है और वह प्रत्येक वस्तु को नायक की दृष्टि से देखता है और ठीक उसी की भाँति प्रतिक्रिया करता है।

किन्तु नायक जिस परिस्थिति में आचरण करता है वह भावात्मक होती है। अब, नायक के साथ दर्शक का तादात्म्य होने पर भावों का भी तादात्म्य हो जाता है। यह रसानुभव का भावात्मक स्तर है।

अपनी पराकाष्ठा में भाव भाव-प्रभावित व्यक्ति के लिए संपूर्ण आत्मविस्मृति का कारण बन जाता है। भाव व्यक्ति की वैयक्तिकता को समाप्त कर देता है। वह उसे उसकी वैयक्तिक्ता के विधायक तत्त्वों, जैसे देश, काल आदि से मुक्त कर देता है। वह उसे साधारणीकृत कर देता है। यह साधारणीकरण (या साधारणीभवन) का स्तर है और इसका अर्थ निर्वैयक्तीकरण है। इस स्तर पर भावात्मक अनुभव सभी वस्तुनिष्ठ संदर्भों से और निजता के कारणभूत दैशिक और कालिक संबन्धों से सर्वथा मुक्त होता है। इस स्तर पर भावात्मक अनुभव साधारणीकृत भाव ही है जो विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ अपने उपयुक्त एकीकरण के कारण और साधारणीकृत सहृदय के हृदय और बुद्धि की एक विशेष दशा से जुड़कर एक भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है।

भट्टनायक के मत में (जिसका अनुकरण बाद में धनञ्जय ने भी किया है) यही रसानुभव की स्थिति है। रसानुभव साधारणीकृत स्थायी भाव से प्रभावित साधारणीकृत प्रमाता द्वारा आनन्द का अनुभव है जिसमें उसके हृदय की दशाएँ भी उस स्थायी भाव के अनुरूप हो जाती हैं। यही अवस्था रससूत्र का विषय है।

किन्तु अभिनवगुप्त की रस-संबन्धी अवधारणा में यह रसानुभव की चरम अवस्था नहीं है। वे अभी कुछ और भी कहना चाहते हैं। **अभिनवभारती** में रससूत्र का विवेचन करते हुए एक स्थान पर वे अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं : 'अस्मन्मते तु संवेदनमेव आनन्दघनमास्वाद्यते' (**अ॰भा॰**, पृ॰ 269)। वे मानते हैं कि अपने चरम स्तर पर रसानुभव शुद्ध और निर्मल आनन्द के रूप में स्वयं आत्मा का अनुभव है। वह इस अवस्था को महारस का नाम देते हैं। इसमें स्थायी भाव की स्थिति के विषय में उनका कहना है कि यह अवचेतन में रहता है और इस अवचेतन भाव

के आधार पर ही इसे शृंगार, करुण आदि अनेक प्रकारों में विभाजित किया गया है।[4] इस अवचेतन भाव को जगाना ही नाटक का लक्ष्य है।

अभिनवगुप्त स्वीकार करते हैं कि रसानुभव में एक अवस्था ऐसी आती है जहाँ आत्मा अपने आप का अनुभव स्थायी भाव से प्रभावित आत्मा के रूप में करता है। किन्तु वे कहते हैं कि यह चरम अवस्था नहीं है। वे मानते हैं कि नाट्य-प्रदर्शन को देखने अथवा उत्तम काव्य को पढ़ने से उत्पन्न होने वाला रसानुभव उस अनुभव से भिन्न है जो किसी सुखद वस्तु के प्रत्यक्ष से होता है। इसका कारण यह है कि रसानुभव वैयक्तिकता के सभी तत्त्वों से मुक्त है। यह वह अनुभव है जिसमें साधारणीकृत प्रमाता का प्रकाश वाला पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है और विमर्श, चमत्कार, आनन्द, का पक्ष प्रधान हो जाता है।

साधारणीकृत अवस्था में भी रसानुभव के दो स्तर हैं। एक स्तर वह है जिसमें साधारणीकृत स्थायी भाव मानों विषय रूप में गृहीत होता है। ऐसा नायकस्थ स्थायी भाव के अनुमान के कारण नहीं होता अपितु इसलिए होता है कि नाट्य-प्रदर्शन द्वारा यह स्थायी भाव अवचेतन (संस्कार, वासना) में से जाग्रत हो जाता है। इसके जाग्रत होने का कारण यह है कि सहृदय पूरी तरह नायक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर चुका है। दूसरे स्तर पर उत्कट अन्तर्मुखता और स्थायी भाव की पूर्ण उपेक्षा के कारण प्रमाता और प्रमेय का द्वैत लुप्त हो जाता है। इस स्तर पर स्थायी भाव पुनः अवचेतन में चला जाता है। इस प्रकार, अभिनव के मत में, रसानुभव अपनी चरम अवस्था में परमानन्द का अनुभव है जहाँ स्थायी भाव भी अवचेतन में लीन हो जाता है। इस प्रकार चरम अवस्था में रसानुभव व्यतिरेक तुर्यातीत के स्तर का अनुभव है जिसमें, जैसा पहले कहा जा चुका है, संपूर्ण विषयता अवचेतन में लीन हो जाती है और प्रमाता– आत्मा– अपने आनन्द रूप में विभासित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनवगुप्त के अनुसार, रसानुभव निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं से गुज़रता है :

ऐन्द्रिय स्तर;
कल्पनात्मक स्तर;
भावात्मक स्तर;
साधारणीकरण का स्तर; और
विश्वातीत स्तर।

और विश्वातीत स्तर पर, जिसका आरंभ तुर्यावस्था से होता है जहाँ विश्वप्रमाता विश्व-प्रमेय के ठीक सामने होता है, रसानुभव और आगे जाता है जहाँ विषय अथवा प्रमेय अवचेतन में लीन हो जाता है और आत्मा आनन्दावस्था में विश्रान्त रहता है जो 'व्यतिरेक तुर्यातीत' की अवस्था है।

अभिनवभारती में 'रस' शब्द का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में हुआ है। विश्वातीत स्तर पर प्रथम अवस्था में, जहाँ साधारणीभूत प्रमाता साधारणीभूत विषय का साक्षात्कार करता है, रस का अर्थ 'आस्वाद्य वस्तु' है (रस्यते इति रसः)। यहाँ स्थायी भाव का आस्वादन किया जाता है और इसलिए यह रस है। दूसरे स्तर पर, जहाँ स्थायी भाव अवचेतन में लीन हो जाता है और आत्मा अन्तर्मुखता और आत्म-विश्रान्ति (निरवच्छिन्न स्वात्मपरापमर्श अथवा स्वात्मविश्रान्ति) से युक्त आनन्द रूप में है, रस का अर्थ 'आस्वादन की क्रिया' है (रसनं रसः)।

पहले स्तर में भी, इसका आस्वाद विलग रूप में नहीं होता। अतः श्रीशंकुक का यह कहना ठीक नहीं कि विभावादि से अनुमित स्थायी भाव ही अपनी आस्वाद्यता के कारण रस है। अभिनव स्पष्टतया कहते हैं कि रस स्थायी से भिन्न है (स्थायिविलक्षणो रसः)। यह भेद इसलिए है क्योंकि यहाँ स्थायी अकेला नहीं है अपितु विभावादि के साथ सामंजस्यपूर्ण रीति से मिश्रित है। रस इससे उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार पानक रस (पेय, शर्बत) का स्वाद उसे बनाने वाली सामग्रियों के स्वाद से भिन्न है।

इसी प्रकार (प्रमाता या प्रमेय के) साधारणीकरण के विषय में अभिनव भट्टनायक की भाँति भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अतिरिक्त व्यापारों की परिकल्पना आवश्यक नहीं मानते। वे साधारणीकरण की प्रक्रिया को आभासवाद की ज्ञानमीमांसीय अवधारणा का सहारा लेकर युक्तिसंगत आधार पर स्पष्ट करते हैं। आभासवाद के अनुसार विशेषात्मकता आभास के देश-काल-संबन्धों से बनती है और सामान्यरूप आभास ऐसे संबन्ध से मुक्त है। आभास की विशेषात्मकता का कारण प्रमाता की प्रयोजनमूलक प्रवृत्ति है। यदि प्रमाता इस प्रवृत्ति से रहित हो तो उसकी ज्ञान की क्रिया आरंभिक अवस्था में ही समाप्त हो जाएगी और ज्ञात वस्तु का देश और काल से संबन्ध जुड़ने की प्रक्रिया नहीं होगी। इस प्रकार सहृदय की चेतना में प्रतीत होने वाला विषयरूप रस सामान्य इसलिए है क्योंकि वह इसे अनासक्त भाव से देखता है। उसकी प्रवृत्ति व्यावहारिक नहीं अपितु रसात्मक होती है। इस प्रकार अभिनव को भट्टनायक की भाँति कुछ अतिरिक्त व्यापारों की परिकल्पना नहीं करनी होती। उनके मत में प्रमाता और प्रमेय के विधायक तत्त्व नियत नहीं होते। वे प्रत्येक भिन्न प्रकार के अनुभव में भिन्न होते हैं। न केवल प्रमाता और प्रमेय, अपितु प्रमाता की प्रतिक्रिया और उसके परिणामस्वरूप होने वाले अनुभव का रूप भी भिन्न होता है। वे लौकिक एवं व्यावहारिक नहीं होते। वे मात्र रसात्मक हैं।

इस प्रकार रसानुभव का चरम स्तर, अभिनवगुप्त के अनुसार, आनन्द है, आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं। रस की यह अवधारणा अनायास ही उपनिषद्

वाक्य 'रसो वै सः' (**तैत्तिरीय उप.** II.2) का स्मरण दिला देती है। इस स्तर पर आत्मा आनन्द, विमर्श अथवा स्फुरत्ता वाले रूप में प्रकाशित होती है। साधारणीभूत स्थायी भाव का भी कोई प्रभाव इसमें अवशिष्ट नहीं रहता क्योंकि वह भी अवचेतन में पुनः विलीन हो जाता है। "इस स्तर को रस मानने का कारण यह नहीं है कि रसात्मक वस्तु आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है अपितु यह है कि यह उस अवस्था से उभरता है जहाँ आत्मा रस-रूप में प्रतिबिम्बित होती है।" (**इंडियन एस्थे.**, खंड 1)।

हमने अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और आवश्यक होने पर शैवाद्वैत की ज्ञानमीमांसीय प्रविधि का भी उल्लेख किया है। इसके प्रकाश में अब हम उनके रससूत्र के विवरण की चर्चा करेंगे।

(ग) रससूत्र पर अभिनवगुप्तकृत विवृति

अभिनवगुप्त आरंभ में ही घोषित करते हैं कि वे कुछ नया नहीं कह रहे हैं अपितु भरत ने जो कहा है उसी का परिष्कार कर रहे हैं। वे रस के विषय में अपनी चर्चा का प्रारम्भ सहृदय के अनुभव के आधार पर करते हैं जो कल्पना-शक्ति से संपन्न होने के कारण शुद्ध रसानुभव का आनन्द लेने का एकमात्र अधिकारी है (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदयः)। शास्त्र में ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति ही सहृदय कहा गया है।

सहृदय में अपेक्षित गुणों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने **ध्वन्यालोकलोचन** के निम्नलिखित वाक्य में किया है : "येषां काव्यांशास्त्रानुशीलनवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता त एव स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"

[सहृदय वे ही लोग हैं जो काव्य एवं शास्त्र (काव्यशास्त्र) के अध्ययन द्वारा अपने हृदय के साथ संवाद की शुद्ध सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार जिनमें प्रस्तुत (नाट्य-प्रदर्शन आदि) के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का गुण है।]

सहृदय की इस परिभाषा में अभिनवगुप्त ने 'विशदीभूते मनोमुकुरे', 'वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता' और 'स्वहृदयसंवादभाजः' शब्दों द्वारा तीन मुख्य गुणों का उल्लेख किया है। इन तीन शब्दों के तात्पर्य को समझना आवश्यक है। सहृदय का हृदय ऐसा निर्मल होना चाहिए जो मंच पर प्रदर्शित नाट्य को दर्पण जैसी निर्मलता से प्रतिबिम्बित कर सके। दूसरे, उसमें नाट्यवस्तु के साथ एकाकार होने की क्षमता होनी चाहिए और तीसरे, उसे स्वयं कवि के मन के उस भाव का अनुभव करना चाहिए जो नाटक अथवा काव्य के माध्यम से संप्रेषित किया जा रहा है।

इन गुणों के तात्पर्य को अभिनवगुप्त ने **तन्त्रालोक** में स्पष्ट किया है। वे निर्मलत्व को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं :

नैर्मल्यं चातिनिबिडसजातीयैकसंगतिः।
स्वस्मिन्नभेदाद् भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद् गुरूदितान्।।

निर्मलता किसी पदार्थ के सजातीय तत्त्वों का घनिष्ठ सामीप्य है। एक उदाहरण से इस धारणा को स्पष्ट किया जा सकेगा। दर्पण रूप-परमाणुओं से मिलकर बना है। ये परमाणु एक दूसरे के अत्यन्त सामीप्य में हैं। किन्तु जब दर्पणतल धूलिकणों से ढँक जाता है तो यह चेहरे को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। क्यों? क्योंकि रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य उनके बीच आने वाले धूलिकणों द्वारा बाधित होता है। अतः दर्पण निर्मल नहीं है। जब हम धूल को हटा देते हैं तो रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य फिर से लौट आता है और हम कहते हैं कि दर्पण निर्मल है। हमारे हृदय के विषय में भी यही स्थिति है। जब हम अभिनीत नाटक को देखते हैं अथवा काव्य को पढ़ते हैं तो हमारा मन उसमें प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय-वस्तु से असंबद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से हमारा मन व्याकुल नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए, नाटक के किसी करुण दृश्य को यदि हम अपने निजी जीवन की किसी घटना से जोड़ लें तो उसका रस नहीं ले सकते। व्यक्तिगत प्रवृत्ति का यह उदय रसविघ्न माना जाएगा जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। निर्मलता की दूसरी अवधारणा यह है कि हृदय नाट्य-वस्तु को अपने से एकाकार रूप में प्रतिबिम्बित करे किन्तु साथ ही, उससे इतना प्रभावित न हो जाए कि हृदय की मूल निर्मलता बाधित हो जाए (यह उनके गुरु का मत है)। उदाहरण के लिए, जब हम मंच पर अभिनीत किसी दृश्य को देखते हैं अथवा किसी काव्य को सुनते हैं तो उसमें तन्मय हो जाते हैं। बाद में हम इसे अपने निजी जीवन में साकार होते देखने की आन्तरिक इच्छा का अनुभव करते हैं। नाटक के दृश्य का आस्वादन करते समय हृदय की निर्मलता विद्यमान थी। किन्तु प्रदर्शित दृश्य के प्रतिबिम्ब ने हृदय की मूल निर्मलता को इस सीमा तक विचलित कर दिया कि हमने अपने सामान्य जीवन में भी उस नाटकीय स्थिति का अनुभव करना चाहा। इससे स्पष्ट है कि रसानुभव और निजी जीवन का अनुभव अलग-अलग स्तरों से संबन्ध रखते हैं और उन्हें पृथक् रखा जाना चाहिए।

सहृदय का दूसरा गुण नाटकीय स्थिति के साथ उसके तन्मय हो जाने की सामर्थ्य है। यह केवल तभी संभव है जब हृदय की आवश्यक निर्मलता हममें हो। इसलिए दर्शक के हृदय की शुद्धता के अनुसार ही प्रदर्शित स्थिति उसके हृदय

में प्रतिबिम्बित होती है (आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः)। प्रदर्शित स्थिति के दो अंश हैं : चेतन और अचेतन। स्थिति के अचेतन अंश को दर्शक उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसे अनेक सूक्ष्मताओं वाले किसी चित्र के एकत्व को ग्रहण किया जाता है, किन्तु चेतन अंश का ग्रहण दर्शक द्वारा अभिनीत भाव से तादात्म्य किये बिना नहीं होता। अभिनव के शब्दों में :

जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः।
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल।।

भाव के साथ इस तादात्म्य के परिणामस्वरूप, स्वहृदयसंवाद होता हैं संवाद का अर्थ है दो सदृश वस्तुओं में सामरस्य। काव्य में, किसी नाटक अथवा कविता में प्रस्तुत स्थिति के माध्यम से कवि के भाव और पाठक या दर्शक के भाव के बीच सामरस्य की स्थिति उत्पन्न होती है। इसलिए समस्त पद 'स्वहृदयसंवादभाक्' उस दर्शक की ओर संकेत करता है जो नाटक के पात्र अथवा दृश्य के माध्यम से अपने हृदय में उसी भाव का अनुभव कर रहा है जो कवि के भाव के साथ सामरस्ययुक्त है। (स्वस्मिन् कविहृदयस्य संवादं भजते इति)। जैसा भट्ट तौत ने कहा है कवि, पात्र एवं दर्शक का अनुभव एक ही प्रकार का है। (नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः)।

अब हम सहृदय के गुणों को इस प्रकार एक साथ रख सकते हैं :

1. सहृदय में काव्य के प्रति जन्मजात रुचि होनी चाहिए। इसे रसिकत्व कहा गया है।

2. उसमें कल्पनात्मक स्तर पर परिस्थिति के साथ अपना तादात्म्य करने की शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए पहले व्यावहारिक स्तर पर कल्पनात्मक परिस्थिति का पूर्वानुभव आवश्यक है। और स्वभावतः ही, इसके लिए नाटक और काव्य का अध्ययन और यदा-कदा नाट्यशाला में प्रदर्शनों को देखना आवश्यक है।

3. उसमें मानसिक साक्षात्कार की शक्ति होनी चाहिए। नाटक या काव्य की भाषा ध्वनि से परिपूर्ण होती है। सहृदय में परिस्थिति के मानसिक साक्षात्कार और रसात्मक बिम्ब के निर्माण की शक्ति होनी चाहिए।

4. उसमें नायक के साथ तादात्म्य करने की शक्ति होनी चाहिए। यह तादात्म्य साधारणीकृत विषय को देखने वाले प्रमाता के साधारणीकरण का परिणाम है। ऐसा निर्वैयक्तीकरण के स्तर पर संभव है। यह वही अवस्था है जो शैव तत्त्वमीमांसा में ईश्वरदशा के नाम से जानी जाती है जहाँ विश्वात्मक 'अहम्' (मैं) और विश्वरूप 'इदम्' (यह) आमने-सामने होते हैं। **अलंकारसर्वस्व** पर अपनी टीका में जयरथ कहते हैं कि कवि की लेखनी से भाविक अलंकार की सृष्टि केवल तभी

हो सकती है जब वह 'विद्येश्वरदशा' में हो और इसका आनन्द लेने के लिए पाठक को भी उसी दशा को प्राप्त करना होगा।

5. उसमें ध्यानशीलता का स्वभाव (भावना अथवा चर्वणा) होना चाहिए। यह बिल्कुल ध्यान के द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक-धार्मिक अनुभव की भाँति है। ध्यान में भक्त साधक जिसका अनुभव करता है वह मात्र सामने रखी हुई मूर्ति नहीं है। इस अवस्था में उसके समक्ष प्रतिबिम्बित रूप अधिकांशतः कल्पना की रचना है। यद्यपि वह प्रमातृनिष्ठ है, फिर भी वह उसके समक्ष उसके उपास्य के रूप में प्रकट होती है। **अभिनवभारती** की अधोलिखित पंक्तियों में अभिनव इस अवस्था का उल्लेख करते हैं :

> न हि तत्र सिन्दूरादिमयो वासुदेव इति स्मरणीयप्रतिपत्तिः अपितु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसंकल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नटप्रक्रिया। (**अ.भा.**)

सहृदय के स्तर पर इस ध्यान को चर्वणा कहा गया है। सामान्य बोलचाल में 'चर्वणा' शब्द का प्रयोग किसी पशु के रोमन्थ (जुगाली) के लिए किया जाता है जैसे गाय द्वारा किया गया रोमन्थ। शास्त्र में इसका अर्थ है, उस अनुभव का पुनरावर्तन जो सहृदय रस-वस्तु (नाट्य-प्रदर्शन आदि) से प्राप्त करता है किन्तु जो अवचेतन में वासना के रूप में लीन हो जाता है। इस प्रकार से चेतन स्तर पर पुनरावर्तित होने वाले अनुभव का प्रतिचिन्तन चर्वणा है : काव्यार्थभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेण अनवरतचर्वणा (**लोचन, पृ.** 30)।

ऐसा सहृदय जब रंगशाला में जाता है तो उसकी अभिवृत्ति रसात्मक होती है। यह अभिवृत्ति सामान्य जीवन की व्यावहारिक अभिवृत्ति से भिन्न है। वह किसी दायित्व के निर्वाह के लिए वहाँ नहीं जाता (कर्तव्यताबुद्धिरहितत्व)। वह कुछ समय के लिए सुन्दर दृश्यों और संगीत के आदर्श लोक में रहने की दृष्टि से ही वहाँ जाता है। इसीलिए संगीत के आरम्भ होते ही वह ऐहिक जगत् वाले अपने व्यक्तित्व को भूल सकता है और उसका मानस नाट्य-प्रदर्शन के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए आवश्यक निर्मलता प्राप्त कर लेता है और रंगमंच पर प्रस्तुत भाव में तन्मय होने के लिए तत्पर हो जाता है[5]।

और वहाँ जब वह प्रदर्शन को बौद्धिक रूप से ग्रहण करता है तो उसके संमुख प्रस्तुत परिस्थिति के संदर्भ में देश और काल के तत्त्व, प्रदर्शित कथावस्तु की सत्यता अथवा असत्यता की धारणा, और उचित-अनुचित, संशय-संभावना की समस्त चेतना उसके बोध में प्रविष्ट नहीं होते[6]।

दर्शक के समक्ष प्रदर्शित विषय तीन विधायक तत्त्वों, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का मिश्रित समुदाय है जिसका प्रयोजन मूल भाव, स्थायी, को व्यंजित

करना है। संपूर्ण प्रदर्शन को न तो भ्रान्ति कहा जा सकता है और न ही इसे व्यावहारिक अनुभव का यथार्थ विषय कहा जा सकता है। दर्शक वहाँ यथार्थतः ऐतिहासिक किसी व्यक्ति को नहीं देखता। किन्तु साथ ही, उसे यह भी बोध नहीं होता कि वहाँ राम के वेश में वस्तुतः एक अभिनेता है। वह अभिनेता को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानता और न ही वह अपने संमुख अभिनय कर रहे व्यक्ति को वास्तव में अभिनेता मानता है। फिर यह है क्या? रसशास्त्रियों का उत्तर है कि यह अलौकिक है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह अप्राकृतिक अथवा मायिक है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि नाट्य-प्रदर्शन का स्वभाव ऐसा है कि इसे दैनिक व्यावहारिक जीवन की स्वीकृत कोटियों में से किसी के भी साथ वर्गीकृत किया ही नहीं जा सकता। यह रस के लोक की वस्तु है और इसकी सत्यता भी रसात्मक है और वह भी उनके लिए जो उस लोक में रहने के इच्छुक हैं। यह कवि-प्रतिभा का संसार है और इसलिए इस संसार के विधायक तत्त्व कवि-कल्पना के अनुसार होते हैं। इसीलिए उनका नामकरण भी सामान्य संज्ञाओं द्वारा नहीं किया जाता। वे विभाव हैं, कारण नहीं। विभावादि की सत्ता तभी तक है जब तक उस काव्य-जगत् (नाट्य) की सत्ता है। सामान्य जीवन में उनकी कोई सत्ता नहीं। अतः रस केवल नाट्य में है, सामान्य जगत् में नहीं (नाट्य एव रसो न तु लोके)।

रसात्मक अभिवृत्ति से युक्त सहृदय रंगशाला में जाता है। शीघ्र ही सूत्रधार नटी एवं साथियों के साथ प्रवेश करता है। वह अभिनीत किये जाने वाले नाटक की घोषणा करता है और किसी गीत, नृत्य अथवा संगीत की अवतारणा करता है। इससे दर्शक में एक आत्म-विस्मृति की स्थिति उत्पन्न होती है। नायक अथवा अन्य किसी पात्र के प्रवेश की सूचना देकर सूत्रधार रंगमंच से चला जाता है। कालिदास के **शाकुन्तलम्** की प्रस्तावना को ले लें। नटी द्वारा ग्रीष्म ऋतु के विषय में एक गीत गा चुकने पर सूत्रधार कहता है : "तुम्हारे मनोहर गीत से मेरा मन उसी प्रकार बलात् खींच लिया गया था जैसे द्रुतगति से भागते हुए हिरण द्वारा राजा दुष्यन्त।" जब हम यह सुनते हैं तो नटी के संगीत द्वारा पहले से ही परिवर्तित हमारा मानस तुरन्त हमारे इस लौकिक जगत् से हटकर कालिदास द्वारा रचित रसलोक में पहुँच जाता है। दर्शकों पर इस दृश्य का प्रभाव स्पष्ट है। सूत्रधार ने अपेक्षित अभिवृत्ति को जाग्रत करके, प्रदर्शन-योग्य स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया के लिए हमें तैयार करके, आगे होने वाले प्रदर्शन के विषय में बतलाकर, और चेतना के सभी संभावित प्रभावों को हटाकर और इस प्रकार हमारे मन को दर्पण की भाँति शुद्ध और निर्मल बनाकर, प्रदर्शित होने वाली कलाकृति को देखने के लिए हमें तैयार कर दिया है।

इस प्रकार से मन नाट्य-प्रदर्शन के संमुख होता है। अब नायक एक रोचक परिस्थिति के बीच हमारे सामने प्रकट होता है। अभिनेता की **वेश-भूषा (आहार्य**

अभिनय) के कारण उसका अपना व्यक्तित्व हमारी दृष्टि में नहीं आता। वह हमारे संमुख एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में आता है। किन्तु हम उसकी पहचान अतीत के मनुष्य के रूप में नहीं करते। इस प्रकार हम नट को न तो नट के रूप में देखते हैं, न ही दुष्यन्त, अर्थात् एक भूतकालिक व्यक्ति के रूप में। हम उसे उस परिस्थिति के केन्द्र के रूप में देखते हैं। उस मनोहारी परिस्थिति द्वारा प्रभावित हमारा मानस उसके नीरस और प्रतिकूल सभी तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है। डॉ. पांडेय इस प्रसंग में कहते हैं : "कोई भी गुलाब काँटों से रहित नहीं। क्या इससे यह अर्थ निकलता है कि प्रकृति में कोई सौन्दर्य नहीं है ? नहीं। प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेम करने वाला मन गुलाब की प्रशंसा करते हुए भी काँटे की उपेक्षा कर देता हैं यद्यपि दोनों उसके संमुख एक ही समय में होते हैं।" इसी प्रकार जब मन के समक्ष कोई सौन्दर्यात्मक परिस्थिति प्रदर्शित की जाती है तो सौन्दर्यवृत्ति से परिपूर्ण मानस उसमें विद्यमान सभी प्रतिकूल तत्त्वों को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार प्रदर्शन में काल, देश और व्यक्ति आदि प्रतिकूल तत्त्वों का निराकरण हो जाता है और जो शेष रहता है वह दर्शक की चेतना को प्रभावित करता है। यह विषय का साधारणीकरण है।

इस प्रकार प्रमातृनिष्ठ पक्ष में व्यक्ति द्वारा अपनी वैयक्तिकता की विस्मृति, और वस्तुनिष्ठ पक्ष में नायक की मनोवैज्ञानिक स्थिति एक साथ मिलकर एक ऐसी दशा को उत्पन्न करती हैं जिसे शास्त्रीय भाषा में तन्मयता अथवा तादात्म्य कहते हैं। आत्म-विस्मृति की दशा नाटक की प्रारंभिक स्थितियों द्वारा पहले ही उत्पन्न की जा चुकी है। सहृदय अपना तादात्म्य नायक के साथ कर लेता है और नाट्य-वस्तु का साधारणीकरण हो जाने के कारण, दर्शक के मन को परिस्थिति उसी प्रकार प्रभावित करती है जिस प्रकार नायक को। यही वह दशा है जहाँ रसात्मक बिम्ब का विकास आरम्भ हो जाता है जो शनैः-शनैः सर्वव्यापक हो जाता है[7]।

पराकाष्ठा की स्थिति आने पर, अर्थात् उस दशा में जब स्थायी भाव आस्वाद की चरम सीमा को प्राप्त होता है, यह बिम्ब पूर्णतया विकसित हो जाता है। कवि, नायक और दर्शक का अनुभव समानरूप होता है। इसके वस्तुनिष्ठ घटक भी समानरूप होते हैं। इसलिए जब हम नाट्य-प्रदर्शन को देखते हैं तो प्रयोजन, मानसिक और शारीरिक प्रवृत्तियाँ और स्वभाव सीधे नायक की शैली से प्रेरित होते हैं और प्रस्तुत विषय का बोध भी उसी की दृष्टि के माध्यम से होता है। रंगमंच पर प्रस्तुत प्रदर्शन तो केवल एक माध्यम है।

सुरुचि, बौद्धिक पृष्ठभूमि और कल्पना-शक्ति से संपन्न सहृदय स्थितियों और संवेदनों को व्यवस्थित करता है और उन्हें एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है। वह उन्हें अचेतन के आवश्यक तत्त्वों के साथ जोड़ता है और एक कल्पना-लोक का

निर्माण करता है जिसमें वह रहता है और जिसमें उसकी सत्ता है। उसका सहृदयत्व जाग्रत हो जाता है जिससे यह रसात्मक बिम्ब पूर्ण हो जाता है। इसके उपरान्त भावात्मक प्रभाव का उद्भव होता है।

और फिर रसानुभव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष, साधारणीकरण का पक्ष, आता है। प्रदर्शित स्थिति नायक और सहज शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के साथ मिलकर उच्चतर स्तर पर एक आध्यात्मिक ध्वन्यर्थ अथवा प्रतीयमानार्थ के रूप में विकसित होती है। इसकी प्रक्रिया को अभिनवगुप्त ने कालिदास की **शकुन्तला** से एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है।

दृश्य की पृष्ठभूमि कण्व के आश्रम के निकट तपोवन का परिवेश है। राजा दुष्यन्त रथ में आश्रम के मृग का पीछा करता हुआ दिखलाई देता है। मृग राजा के बाण से अपने प्राण बचाने के लिए भाग रहा है। वह अत्यन्त भयभीत है। इस रूप में वह उस कारण के रूप में चित्रित किया गया है जो अनुभवकर्ता राजा के माध्यम से दर्शक को भयानक की प्रतीति कराता है। प्रदर्शन के बुद्धिगत अनुभव से प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। दर्शक राजा के शब्दों को सुनता है जो इस प्रकार हैं :

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति[8]।

दर्शक श्लोक को सुनता है। वह भाषा की अभिधा और तात्पर्य शक्तियों के माध्यम से इसके अर्थ को एक समग्रता में ग्रहण करता है। वह इसे भय के प्रभाव के रूप में देखता है। काल, देश आदि तत्त्वों का पहले ही निराकरण हो चुका है। व्यक्ति का निराकरण स्वाभाविक रूप से फलित होता है। वह भावात्मक रूप से अपना तादात्म्य प्रदर्शित स्थिति के साथ कर चुका है और क्योंकि उसके द्वारा अवबुद्ध स्थिति सार्वत्रिक है अतः उसकी चेतना में केवल वही है जिसे भयभीत (भीतः) कहा जा सकता है। भयभीत होने के लिए भय का कारण भी होना आवश्यक है। किन्तु वस्तुस्थिति में उसका कोई कारण नहीं है और इसलिए उसकी चेतना में केवल भय ही है। यह भय दर्शक के हृदय को प्रभावित करता है। उसे लगता है जैसे यह उसके भीतर व्याप्त हो रहा हो; वह भय को अपनी दृष्टि के सामने नृत्य करता-सा देखता है और इस प्रकार मानसिक रूप से साक्षात्कृत होने पर व्यंजित अन्तर्वस्तु जिसे शास्त्रीय भाषा में भयानक रस कहते हैं, अलौकिक धरातल पर प्रकट होती है[9]।

इस भय का उद्गम कहाँ से होता है ? अभिनव कहते हैं कि यह कहीं बाहर से नहीं आता। आत्मा अनादि है और रति आदि की वासनाएँ उसमें स्वभावतः विद्यमान हैं। ये वासनाएँ अपने आप को इस प्रकार प्रकट करती हैं कि जब सहृदय नेत्रों और कानों को आनन्द देने वाली परिस्थिति में होता है तो यह अन्तःकरण में स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो उठती हैं। जब ऐसा होता है तो रसात्मक स्थिति का व्यंग्यार्थ सामने आ जाता है। अपने मत के समर्थन में अभिनवगुप्त कालिदास और साथ ही **योगसूत्र** को भी उद्धृत करते हैं।

इस प्रकार साधारणीकरण के स्तर पर रसानुभव साधारणीभूत सहृदय के द्वारा, साधारणीभूत प्रदर्शन का अनुभव है। आभासवाद के चौथे तत्त्व ईश्वर की भाँति इस अवस्था में भी वस्तुनिष्ठ अंश की प्रधानता है। इस स्तर का अनुभव 'यह मैं हूँ', इस प्रकार का है।

अभिनव कहते हैं कि इस स्तर पर केवल तभी पहुँचा जा सकता है जब कोई विघ्न न आए । उन्होंने रसास्वाद में सात विघ्न (रस-विघ्न) बतलाए हैं। वे इस प्रकार हैं :

1. संभावनाविरह – प्रदर्शित वस्तु की असंभाव्यता;
2. स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः – प्रमाता और प्रमेय का काल और देश द्वारा सीमित हो जाना ;
3. निजसुखदुःखादिविवशीभाव – व्यक्तिगत हर्ष और दुःख का प्रभाव ;
4. प्रतीत्युपायवैकल्य – अपर्याप्त प्रेरणा के कारण प्रतीति में स्पष्टता का अभाव ;
5. स्फुटत्वाभाव – अभिव्यक्ति की अस्पष्टता ;
6. अप्रधानता – प्रधान कथ्य का गौण हो जाना ;
7. संशययोग – प्रदर्शन में स्पष्टता का अभाव।

ये कारण नाट्य-प्रदर्शन से उत्पन्न रस की चर्वणा में बाधा उत्पन्न करते हैं।

अपनी सर्वोच्च अवस्था में, रसात्मक धरातल स्थायी के विषयरूप अनुभव में निहित नहीं है। यह समस्त उपाधियों से मुक्त आत्मा का अनुभव है। इस स्थिति में आत्मा का उस स्थायीभाव से तादात्म्य होता है जो नायक के साथ दर्शक के तादात्म्यीकरण के कारण उदित होने वाले वासनासंस्कार के माध्यम से उद्बुद्ध हो चुका है। यह अनुभव भावरूप नहीं है। यह भाव के ही जैसा है किन्तु यह भौतिक स्तर पर अनुभूत भाव नहीं है क्योंकि इसके उदय के निमित्त लौकिक नहीं हैं। योगी को किसी अन्य व्यक्ति के भाव का जो अनुभव होता है उससे भी यह अनुभव भिन्न है, क्योंकि रसास्वाद में विषय साधारणीकृत होता है। मानसिक दशा का उदय विभावादि की उपस्थिति के कारण होता है। रसानुभव में हमें स्थायी भाव का नहीं अपितु रस का अनुभव होता है जो स्थायी भाव से सर्वथा विलक्षण है

(स्थायिविलक्षणो रसः)। यह केवल तभी तक रहता है जब तक विभावादि नेत्रों के संमुख रहते हैं (विभावादिजीवितावधिः)। यही कारण है कि भरत ने रससूत्र में स्थायी का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वे यह संकेत देना चाहते हैं कि स्थायी भाव का अनुभव विषयरूप में नहीं होता। कुछ स्थलों पर हम पाते हैं कि भरत 'स्थायी' शब्द का प्रयोग करते हैं। ये सभी उल्लेख केवल औचित्य के नाते हैं (औचित्येन एवमुच्यते), मात्र यह संकेतित करने के लिए कि रस के विधायक सभी तत्त्वों में स्थायीभाव प्रधान तत्त्व है।

नाटक काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है क्योंकि विविध प्रकार के अभिनय के माध्यम से यह सीधे तौर पर रसानुभावक है। काव्य की अन्य विधाओं के पास एक ही साधन उपलब्ध है और वह भाषा का साधन है। फिर भी, अभिनव के मत में श्रव्य काव्य भी रसानुभावक हो सकता है। वे कहते हैं : 'काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः' (काव्य में भी रस को नाटक का रूप मिलता है)। जब हम कोई कविता पढ़ते हैं तो हम नाट्य-प्रदर्शन का मानसिक साक्षात्कार करते हैं (वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीतिरुपजायते)। केवल सर्गबन्ध (महाकाव्य) से ही नहीं, अपितु मुक्तक (अकेले पद्य) से भी सहृदय रसास्वाद प्राप्त कर सकता है यदि वह सौन्दर्यात्मक संवेदना (सहृदयत्व) और साक्षात्कार की शक्ति से संपन्न हो[10]।

जैसा भट्ट तौत का कथन है, कवि, नायक और दर्शक का रसानुभव एक ही प्रकार का है। इस प्रकार के अनुभव की प्रकृति एक ही प्रकार की है। इसे 'हृदयसंवाद' अथवा 'वासनासंवाद' कहते हैं। कवि का अनुभव नाट्य-प्रदर्शन के माध्यम से दर्शक तक पहुँचता है। अभिनीत स्थिति और चरित्र केवल माध्यम हैं, ऐतिहासिक घटनाएँ या व्यक्ति नहीं, और इसीलिए उन्हें पात्र कहा जाता है (अत एव पात्रमित्युच्यते)। इसलिए कवि की अभिव्यक्ति को जन्म देने वाला साधारणीकृत भाव साधारणीकरण की अवस्था में दर्शक के हृदय में प्रतिबिम्बित होता है। कवि का साधारणीकृत भाव एक बीज है और वह एक ऐसे वृक्ष के रूप में परिणत होता है जिसका फल दर्शक द्वारा आस्वादित रस है। अभिनव कहते हैं :

"एवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पस्थानीयः अभिनयादिव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्। (**अभिनवभारती**)

(घ) शान्तरस

श्रृंगारादि विविध रस विभिन्न स्थायी भावों के संदर्भ में, महारस की अवधारणा की विशिष्ट प्रयुक्तियाँ हैं। अतः हमें उनके विवेचन में पड़ने की आवश्यकता नहीं। फिर भी शान्त रस के विषय में कुछ शब्द कहना आवश्यक है क्योंकि यह अभिनव की रसविषयक धारणा का प्रत्यक्ष सहपरिणाम है।

अभिनवगुप्त को नाट्यशास्त्र के दो संस्करणों की जानकारी थी; एक, जिसमें केवल आठ रसों की बात की गई है और दूसरा, जिसमें शान्त को सम्मिलित करते हुए नौ रस माने गए हैं। कतिपय आधुनिक विद्वान् शान्त रस वाले अनुभाग को **नाट्यशास्त्र** में प्रक्षेप मानते हैं। जो भी हो, अभिनव ने काव्य और नाटक दोनों में शान्त रस को मान्यता दी है और इसे प्रधान रस माना है।

अभिनवभारती में शान्त रस वाला अंश काफ़ी लम्बा है। यहाँ इसका सारांश देना संभव नहीं। किन्तु शान्त के स्वरूप पर कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु यहाँ अवश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मानव-जीवन के चार प्रमुख लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। स्मृति और इतिहास की भाँति साहित्य भी काव्य और नाटक के माध्यम से उनका प्रतिपादन करता है। इनमें प्रथम तीन, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का प्रतिपादन रति आदि को शृंगार, वीर आदि के रूप में रसास्वादन के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत करके किया जाता है। "इसी प्रकार", शान्तरस के विरोधियों से अभिनव का प्रश्न है, "मोक्ष की सिद्धि के लिए आवश्यक मानसिक दशा (वह जो भी हो) को प्रदर्शित करना क्यों न संभव होगा।" भली भाँति प्रस्तुत करने पर इससे सहृदय दर्शकों में रसास्वाद को उत्पन्न किया जा सकता है। अतः यह कहने में कोई दम नहीं कि शान्त रस का अस्तित्व ही नहीं है।

फिर शान्त का स्थायी भाव क्या है ? अभिनव इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं : ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान मोक्ष का एकमात्र साधन है। अतः तत्त्वज्ञान को ही शान्त के स्थायीभाव के रूप में प्रदर्शित किया जाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान आत्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः सभी विकल्पों से मुक्त एवं शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा ही तत्त्वज्ञान शब्द का अर्थ है। यह आत्मा शान्त रस का स्थायी है।

रति आदि भावों का उल्लेख स्थायी के रूप में इसलिए किया गया है क्योंकि वे तुलनात्मक दृष्टि से व्यभिचारी भावों की अपेक्षा अधिक स्थिर हैं। जब तक उन्हें उत्पन्न करने वाले विभाव बने रहते हैं तब तक वे आत्मा को प्रभावित करते हैं। किन्तु वे स्वतन्त्र रूप में अवस्थित नहीं रह सकते। उनका आत्मा से वही संबन्ध है जो चित्र का चित्रफलक से है। इसलिए आत्मा सभी स्थायी भावों में सर्वाधिक स्थायी है और अन्य सभी स्थायी भावों को व्यभिचारी की स्थिति में डाल देता है। आत्मा का स्थायित्व नैसर्गिक एवं यथार्थ है, तुलनात्मक नहीं। अतः स्थायी भावों की सूची में इसका पृथक् से उल्लेख आवश्यक नहीं। क्योंकि किसी जाति के अन्तर्गत जो अंश आते हैं उन अंशों की गणना में कोई भी उस जाति को सम्मिलित नहीं करता।

इस स्थायी भाव का रसात्मक आस्वाद रति आदि के आस्वाद की रीति से नहीं होता अपितु सर्वथा भिन्न रीति से होता है। रति आदि का आस्वाद लौकिक स्तर पर भी होता है। किन्तु शुद्ध आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है। इसलिए भरत ने इसे शम कहा है, आत्मा नहीं। शम मन की कोई पृथक् अवस्था नहीं अपितु स्वयं आत्मा ही है। यह आत्मा के स्वरूप को ही बतलाता है। अतः तत्त्वज्ञान और शम का अर्थ आत्मा ही है। 'शम आत्मा का ही स्वरूप है', यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि अखंड समाधि के माध्यम से आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाला साधक समाधि से व्युत्थान की दशा में भी चित्तवृत्तियों के रूप में मलिनताओं के बावजूद शम का अनुभव करता है।

कुछ लोग शान्त के स्थायिभाव के रूप में 'निर्वेद' को मानने का सुझाव देते हैं। किन्तु निर्वेद तो निर्धनता आदि जैसी परिस्थितियों से भी उत्पन्न हो सकता है और इसे आत्मा का लक्षण (निर्भ्रान्त चिह्न) नहीं माना जा सकता। इसलिए शम की भाँति भरत ने इसे आत्मज्ञान के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया।

इस प्रकार आत्मज्ञान शान्त का स्थायी भाव है। यम और नियम सहित सभी अनुभाव इसके अनुभाव होंगे और वे भी जिन्हें भरत ने 'स्वभावाभिनय' का नाम दिया है। उन्हें 'स्वभावाभिनय' इसलिए कहा गया है क्योंकि केवल शान्त रस ही उनका क्षेत्र है। ईश्वरानुग्रह आदि इसके विभाव हैं और मानवता के प्रति प्रेम आदि व्यभिचारिभाव हैं।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने वाले मनुष्य के सभी प्रयास लोक-कल्याण के लिए होते हैं। यह दया है। शान्त रस से इसका घनिष्ठ संबन्ध है। इसलिए कुछ लोग शान्तरस को दयावीर अथवा धर्मवीर भी कहते हैं क्योंकि नायक में दूसरों के लिए अपने शरीर तक को बलिदान कर देने का उत्साह होता है जो शान्त का व्यभिचारिभाव है। अभिनव ने जीमूतवाहन का दृष्टान्त देकर इसकी व्याख्या की है।

वे दर्शक एवं पाठक, जो दीक्षित हो चुके हैं और जिनमें आत्मा के इस प्रकार के ज्ञान के बीजभूत संस्कारों का विकास हो चुका है, सहृदय प्रतिक्रिया (हृदयसंवाद) की दशा का अनुभव करते हैं। भरत इसका उल्लेख इन शब्दों में करते हैं : मोक्षे चापि विरागिणः (रागशून्य मनुष्यों की रुचि मोक्ष में होती है)। अभिनव शान्तरस के अनुभव का स्वरूप इन शब्दों में बतलाते हैं :

"जिस प्रकार से वह सफेद धागा, जिसमें विभिन्न प्रकार की मणियाँ शिथिल एवं विरल रूप में पिरोई गईं हैं, मणियों के भीतर और उनके माध्यम से चमकता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा उसे प्रभावित करने वाले रति तथा उत्साह के भावों के माध्यम से भासित होता है। शान्त का रसानुभव बाह्य आकांक्षाओं के कारण

उत्पन्न होने वाले समस्त दुःखमय अनुभवों से मुक्त आत्मा का अनुभव है और इसलिए यह ब्रह्म के साथ तादात्म्य की आनन्दमय अवस्था है। यह पूर्ण आत्म-साक्षात्कार की दिशा की किसी एक अवस्था में आत्मा का अनुभव है। आत्मा की ऐसी अवस्था जब रंगमंच पर अथवा काव्य में प्रस्तुत होने पर साधारणीकृत होती है तो उससे एक ऐसी मानसिक दशा का जन्म होता है जो लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है।"

(इंडियन एस्थे. I, पृ॰ 249-50)

शान्तरस के संबन्ध में अभिनवगुप्त निम्नलिखित संग्रह-कारिकाओं को उद्धृत करते हैं

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः।।
स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्तादुत्पाद्यते रसः।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते।।

[शान्त रस वह है जो आत्मा की मुक्ति की इच्छा से उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञान की ओर ले जाने वाला है और सर्वोच्च आनन्द के धर्म से युक्त है। अपने-अपने विशिष्ट निमित्तों के द्वारा शान्त से विभिन्न भावों का उदय होता है और इन निमित्तों के तिरोहित होने पर वे भाव पुनः शान्त में विलीन हो जाते हैं।]

इस प्रकार शान्त आधारभूत रस है; अन्य सब रस विभिन्न स्थायी भावों के अध्यारोप के फलस्वरूप होने वाले इसके रूपान्तरण मात्र हैं। इस प्रसंग में यह जानना रोचक है कि शान्त को सभी रसों की प्रकृति बतलाने के लिए अभिनवगुप्त **अभिनवभारती** में नाट्यशास्त्र की कुछ प्राचीन पाण्डुलिपियों का उल्लेख करते है जहाँ शान्तरस वाले अंश का विवेचन श्रृंगार रस से पूर्व हुआ है[11]।

रस के इस लोक की भ्रान्ति हमारे सामान्य जगत् के साथ नहीं होनी चाहिए। हमारा यह साधारण जगत् अपने व्यावहारिक स्वरूप के कारण सुख-दुःख से ग्रस्त है जबकि रसलोक में ऐसा कुछ भी नहीं है। यह आनन्द से उद्भूत होता है, आनन्द में अपने आप को अभिव्यक्त करता है और आनन्द में ही विलीन हो जाता है। अभिनव कहते हैं :

अस्मन्मते तु आनन्दघनमेव संवेदनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखशंका केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः। अत एवानन्दरूपता सर्वरसानाम्। (अ.भा.)

पाँच

अभिनवगुप्त का सौन्दर्य-सिद्धान्त (2)

(क) ध्वनि-सिद्धान्त

पुरातन विद्वानों ने बहुत पहले से इस तथ्य को मान्यता दी थी कि भाषा कविदृष्टि की बाह्य अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम है। रंगमंच पर जो कुछ हम देखते हैं वह कवि द्वारा विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के लिये ही है। भरत कहते हैं :

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं जनयन्ति हि।।

भाषा अपनी व्यञ्जनाशक्ति के कारण यह कार्य कर पाती है। यह वह शक्ति है जो भाषा के प्रतीतिगम्य अर्थ को संप्रेषित करती है। यह प्रतीतिगम्य अथवा प्रतीयमान अर्थ कवि-दृष्टि की आत्मा ही है। यह अर्थ और भाषा की इसे प्रकट करने वाली शक्ति, ये दोनों ही शास्त्रीय भाषा में 'ध्वनि' कहे जाते हैं।

काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र दो ऐसे शास्त्र हैं जो अर्थ की समस्या से संबन्ध रखते हैं। अनेक अवसरों पर रूढ़िमूलक या अभिधामूलक भाषा, जो भाषाशास्त्र का विषय है, कवि के अभिप्राय को संप्रेषित नहीं कर पाती। ऐसी स्थिति में कवि अलंकार का प्रयोग करता है। उपमा, विरोध, कारणता, अतिशयोक्ति व रूपक आदि के माध्यम से अलंकार अभिधामूलक शब्द का परिष्कार करते हैं जिससे पाठक अथवा श्रोता के समक्ष वह अर्थ व्यंजित हो सके जिसे कवि संप्रेषित करना चाहता है। उदाहरण के लिए रामायण का निम्नलिखित श्लोक देखें :

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सज्जनानां मनो यथा।।

कविवर ऋषि वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाज के साथ तमसा में स्नान करने जा रहे हैं। एक स्थल पर वे स्फटिक जैसा स्वच्छ पंकरहित जल देखते हैं जो देखने में सुखद एवं शान्त है। वे शिष्य के सामने अपने मनोभावों को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं : "हे भरद्वाज, इस प्रवाह को देखो जो रमणीय एवं शान्त है, पंकरहित है और स्फटिक-सा स्वच्छ है जैसा सज्जन का मन होता है।" नदी के

जल की सज्जन के मन से दी गई यह उपमा तुरन्त सज्जन के हृदय के गुणों को हमारे संमुख ला देती है और 'मैं इसी में स्नान करूँगा' (इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम्), इन शब्दों के साथ ही हम (पाठक) भी सज्जन के हृदय में डुबकी लगाने लगते हैं। सज्जन के मन को स्पष्टतः पढ़ना वाल्मीकि जैसे संत के लिए ही संभव है जिनका मानस जन-जन के सुख-दुःख से एकाकार होने की क्षमता रखता है। ऐसे ही हृदय में एक पक्षी की भी मृत्यु और उसके साथी का विलाप प्रतिबिम्बित हो सकते हैं जिससे रामायण जैसे महाकाव्य की रचना होती है।

काव्यगत अलंकारों को अलंकार इसलिए कहा गया है क्योंकि वे भाषा के आभूषण हैं। छिपे हुए सौन्दर्य को प्रकट करना आभूषण का कार्य है। व्यंग्यार्थ को संप्रेषित करने पर ही वे अलंकार कहलाते हैं, अन्यथा वे मात्र शाब्दिक कलाबाज़ी होकर रह जाते हैं। कवि का अभिप्रायस्वरूप यह व्यंग्यार्थ शास्त्रीय भाषा में ध्वन्यर्थ कहलाता है। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है, यह बात आनन्दवर्धन की सुप्रसिद्ध उक्ति में कही गई है : 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'।

ध्वनि काव्य का सारतत्त्व है और रस ध्वनि का सारतत्त्व है। ध्वनि क्या है ? यह सर्वथा काव्य का वह विशिष्ट तत्त्व है जिसका सरोकार रस के चरम कलात्मक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भाषाई माध्यम के प्रत्येक तत्त्व–अलंकार, गुण और रीति आदि–के सौन्दर्य का उपयोग करने से है। दूसरे शब्दों में, ध्वनि संपूर्ण काव्य-प्रक्रिया का ही नाम है जिसे अंग्रेज़ी में 'सजेश्चन' कह देते हैं क्योंकि वहाँ इसे व्यक्त करने के लिए इससे बेहतर शब्द उपलब्ध नहीं है (डॉ. कृष्णमूर्ति : **ध्वन्यालोक**, पृ॰ XXXI)।

ध्वनि-सिद्धान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐसा नहीं है कि आनन्दवर्धन के पूर्व काव्यशास्त्र के आचार्यों को ध्वनि कहे जाने वाले तत्त्व का आभास ही नहीं था। किन्तु वे एक युक्तियुक्त ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सके जिसे काव्य की संपूर्ण धारणा का आधार बनाया जा सकता। अभिनवगुप्त कहते हैं कि भामह ने वक्रोक्ति में ध्वनि की अवधारणा का समावेश किया था। नाट्यलक्षण के विषय में लिखते हुए अभिनवगुप्त भामह की प्रसिद्ध कारिका 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते' का उल्लेख करते हैं और बतलाते हैं कि 'विभाव्यते' शब्द यह सूचित करता है कि किस प्रकार वक्रोक्ति के द्वारा विभावादि के माध्यम से काव्यार्थ, अर्थात् रस, को आस्वाद की अवस्था में पहुँचाया जाता है। पुनः **ध्वन्यालोकलोचन** में वे दिखलाते हैं कि भामह एवं अन्य आचार्यों ने पदों के औचित्य और चारुत्व का जो विवेचन किया है वह भी शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति पर आधारित है। भामह ने जहाँ रस का समावेश वक्रोक्ति में

किया है, वहीं वामन ने इसे कान्तिगुण के अन्तर्गत रखा है और उद्भट ने इसे संघटना पर आश्रित माना है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने काव्य के तत्त्व के रूप में रस को स्वीकार किया था। किन्तु उन्होंने रस को ऐसा प्रधान तत्त्व नहीं माना जिस पर वक्रोक्ति, गुण और संघटना जैसे अन्य सभी तत्त्व आश्रित हैं। ध्वनि की अवधारणा को सही-सही रूप में रखने का श्रेय ध्वन्यालोककार आननदवर्धन को है जिनके ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त ने **लोचन** नामक टीका लिखी है। महामहोपाध्याय डॉ. पी. वी. काणे अपनी पुस्तक **हिस्ट्री ऑफ पोएटिक्स** में **ध्वन्यालोक** और **लोचन** के महत्त्व का वर्णन करते हुए **ध्वन्यालोक** की तुलना पाणिनि की **अष्टाध्यायी** अथवा बादरायण के **वेदान्तसूत्र** से करते हैं। अभिनवगुप्तकृत **लोचन** की तुलना उन्होंने व्याकरण पर पतञ्जलिकृत **महाभाष्य** अथवा **वेदान्तसूत्र** पर **शांकरभाष्य** से की है। इस प्रकार हमें कहना होगा कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के **ध्वन्यालोक** में हुआ था।

ध्वन्यालोक में कारिकाएँ हैं और उन कारिकाओं पर वृत्ति है। वृत्ति आनन्दवर्धन द्वारा ही लिखी गई है। किन्तु कारिकाओं के कृतित्व पर मतभेद है। म.म. डॉ. काणे, डॉ. एस. के. डे, डॉ. पी. एस. भट्टाचार्य आदि के मत में कारिकाओं का कर्ता आनन्दवर्धन से भिन्न था जबकि म.म. कुप्पूस्वामी, डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय, डॉ. कृष्णमूर्ति आदि कारिका और वृत्ति दोनों को ही आनन्दवर्धनकृत मानते हैं। नागपुर विश्वविद्यालय के डॉ. बी. आर. अष्टीकर का मत है कि आनन्दवर्धन कारिकाओं के लेखक नहीं हैं किन्तु कारिकाएँ किसी भी एक व्यक्ति द्वारा रचित प्रतीत नहीं होती। यह सर्वथा संभव है कि ध्वनि पर कुछ कारिकाएँ आचार्यों के बीच प्रचलित थीं। उद्भट के **काव्यालंकार** पर प्रतीहारेन्दुराज की टीका से ऐसा ही लगता है। उस टीका में कुछ ऐसी ध्वनि-कारिकाओं को उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है जो उन ध्वनि-कारिकाओं में नहीं हैं जिन पर आनन्दवर्धन ने अपनी वृत्ति लिखी है। अतः यह सर्वथा संभव है कि ध्वनि पर प्रचलित ये कारिकाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा से चली आती थीं और आनन्दवर्धन ने इनका संग्रह कर इन्हें उपयुक्त क्रम में व्यवस्थित किया और उन पर वृत्ति लिखी। तथ्य जो हो, यह निश्चित है कि आनन्दवर्धन ने **ध्वन्यालोक** में काव्यशास्त्र की नींव ध्वनि के सुदृढ़ और तर्कसंगत आधार पर रखी। पंडितराज जगन्नाथ जैसे श्रेष्ठतम आलोचक ने उनका स्मरण ऐसे आचार्य के रूप में किया है जिन्होंने काव्यशास्त्र को सुदृढ़ नींव पर स्थापित किया (ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्)।

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के समय में आलंकारिकों के बीच ध्वनि की अवधारणा विवाद का विषय बन चुकी थी। विरोधियों में ध्वनि के विषय में तीन मत प्रचलित थे : कुछ तो ध्वनि के अस्तित्व

को ही नकारते थे और इसे ध्वनिवादियों की कल्पना मात्र बतलाते थे; अन्य आचार्य ध्वनि के अस्तित्व को तो स्वीकार करते थे किन्तु इसे लक्ष्यार्थ और लक्षणाशक्ति में समाविष्ट मानते थे; एक तीसरा संप्रदाय उन लोगों का था जो ध्वनि के अस्तित्व को भी मानते थे और व्यंजना-व्यापार को भी, किन्तु उनका कहना था कि इसे वर्णित करना और शब्दों में इस धारणा को व्यक्त करना असंभव है, इसकी मात्र प्रतीति की जा सकती है और इसे अनुभव किया जा सकता है।

आनन्दवर्धन ने स्वयं इन सभी आपत्तियों का उत्तर दिया है। वे ध्वनि-सिद्धान्त को स्थापित करते हैं और सिद्ध करते हैं कि यह (व्यंजना) लक्षणा में समाविष्ट नहीं होती और, कि यह वैज्ञानिक विवेचन का विषय बन सकती है। आगे वे कहते हैं कि **ध्वन्यालोक** में उन्होंने सहृदयत्व से संपन्न व्यक्तियों के लिए इसकी व्याख्या एवं वैज्ञानिक विवरण देने का प्रयास किया है। प्रथम अध्याय में आनन्दवर्धन काव्यशास्त्र में ध्वनि की अवधारणा के ढाँचे को वैयाकरणों के स्फोटवाद की ठोस नींव पर खड़ा करने का प्रयास करते हैं। आगे चलकर अभिनवगुप्त अपनी **लोचन** टीका में भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** की कारिकाओं को मुक्त भाव से उद्धृत करते हुए इस नींव की सुदृढ़ता को विस्तार देते हैं। दूसरे अध्याय में वे ध्वनि के विविध प्रकारों (विशेष लक्षण) की चर्चा करते हैं। तीसरे अध्याय में वे दिखाते हैं कि किस प्रकार अलंकार, गुण एवं संघटना ध्वनि पर निर्भर हैं और काव्य में उनका स्थान उसी रूप में है जिसमें वे ध्वनि अथवा रस के प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। तीसरे अध्याय के अंत में वे दिखाते हैं कि किस प्रकार संपूर्ण काव्य को ध्वनि के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है : (1) प्रधानव्यंग्य काव्य; (2) गुणीभूतव्यंग्य काव्य, एवं (3) चित्रकाव्य (जिन्हें बाद में मम्मट ने क्रमशः उत्तम काव्य, मध्यम काव्य एवं अवर काव्य के नाम दिये)। चतुर्थ अध्याय में आनन्दवर्धन विस्तार से बतलाते हैं कि किस प्रकार प्रतिभा का गुण कविदृष्टि का स्रोत ही है और किस प्रकार प्रतिभासंपन्न कवि पुराने काव्य-प्रसंगों को भी नवीनता के साथ वर्णित कर सकता है।

किन्तु आनन्दवर्धन के बाद भी विवाद समाप्त नहीं हुआ। भट्टनायक आदि कुछ ऐसे आचार्य हुए जो रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करने पर भी व्यंजना-व्यापार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। कुछ मीमांसकों ने भी यह दिखाने का प्रयास किया कि व्यंजना-व्यापार अनावश्यक है क्योंकि इसे दीर्घ-अभिधा या तात्पर्य अथवा अर्थापत्ति या फिर अनुमान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जयरथ ने एक पद्य में बारह प्रकार के ध्वनि-विरोधियों का उल्लेख किया है[1]। अभिनव ने **लोचन** टीका में इन सभी विरोधियों का मुकाबला शुद्ध तार्किक आधार पर किया और अन्त में ध्वनि-सिद्धान्त को शुद्ध रूप से तर्क की नींव पर

स्थापित किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने कुछ मामलों में आनन्दवर्धन में सुधार भी किया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि ध्वनि का पूर्ण आकार अभिनवगुप्त के **लोचन** में मिलता है। यद्यपि स्थान की सीमाओं के कारण हम यहाँ उनके तर्कों से विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं कर सकते, फिर भी उन्होंने **लोचन** में ध्वनि-सिद्धान्त को जो आकार दिया है उसकी एक मोटी रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। इस कार्य के लिए हम आनन्दवर्धन की ध्वनि-कारिकाओं और उन पर **आलोक** एवं अभिनवगुप्त के **लोचन** का उपयोग एक इकाई के रूप में करेंगे और ध्वनि-सिद्धान्त की इस रूपरेखा को हम 'अभिनवगुप्त का ध्वनि-सिद्धान्त' कहेंगे।

ध्वनि की अवधारणा की रूपरेखा

काव्यार्थ के दो स्तर हैं : वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ अथवा प्रतीयमानार्थ। सहृदय को सुन्दर लगने वाला यह व्यंग्यार्थ वस्तुतः काव्य की आत्मा है। काव्य-भाषा का वाच्यार्थ उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में है। किन्तु व्यंग्यार्थ अथवा प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है, इसे शब्दों में कहा ही नहीं जा सकता। इसका अनुभव या बोध केवल सहृदय पाठक को हो सकता है। यह अर्थ काव्य की आत्मा है[2]। श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में सदैव वाच्य अलंकारों की अपेक्षा प्रतीयमान को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रतीयमान अर्थ सदैव रस-स्वरूप होता है। पाठक का हृदय इस अर्थ से प्रभावित होता है और साथ ही वह कवि की प्रतिभा से भी चमत्कृत होता है[3]। यह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। इसका बोध केवल उन्हें होता है जिनमें रसास्वाद की सहृदयता है। मात्र व्याकरण अथवा न्याय-शास्त्र के ज्ञान से इसका बोध संभव नहीं[4]। श्रेष्ठ कवियों की कृतियों में मात्र एक शब्द या एक वाक्य भी प्रतीयमान को विद्युत् के स्फुरण की भाँति प्रकट कर सकता है। ऐसे शब्द या वाक्यांश अथवा वाक्य, एवं उससे ध्वनित अर्थ के बीच व्यंग्य-व्यंजक-भाव रूप संबन्ध है। महाकवियों की रचनाओं में यह व्यंग्य-व्यंजक-भाव प्रधान है[5]। काव्य का वाच्यार्थ सदैव इसके प्रति गौण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। अतः यह व्यंग्यार्थ के माध्यम का कार्य करता है। ऐसे काव्य में हम पाते हैं कि अलंकार व्यंग्यार्थ के प्रभाव को ही बढ़ाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार, जिस काव्य में वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ गुणीभूत स्थिति में होते हैं और व्यंजक माध्यम के रूप में कार्य करते हैं, उसे आचार्यों ने ध्वनिकाव्य के रूप में वर्गीकृत किया है[6]। ऐसा व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का हो सकता है : यह किसी धारणा अथवा परिस्थिति को व्यंजित कर सकता है, किसी अलंकार को व्यंजित कर सकता है अथवा रस (जिसमें भाव भी सम्मिलित है) को व्यंजित कर सकता है। पहले दो प्रकारों को क्रमशः वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि कहा गया है। ये व्यंजित होते हैं किन्तु यदि कोई चाहे तो इन्हें अभिधा (सीधे कथन) के माध्यम से भी रख

सकता है। उदाहरण के लिए, धनार्जन हेतु परदेश जाते हुए अपने पति से कोई युवती कहती है :

"धन की अपेक्षा मुझे जीवन से अधिक प्रेम है। अब जाने या न जाने का निर्णय तो आप करें। मैंने अपनी स्थिति बतला दी[7]।"

यहाँ वह व्यंजित करती है कि यदि उसका पति प्रवास पर जाएगा तो वह विरह-वेदना से मर जाएगी। यदि चाहती तो वह यही बात सीधे तौर पर भी कह सकती थी। दूसरा उदाहरण भी देखें। कोई प्रेमी अपनी प्रिया से कहता है :

"देखो, भँवरे कैसे गुनगुनाते हुए हमारे चारों ओर घूमते हैं। गुनगुनाते हुए वे आगे बढ़ते हैं और पीछे लौटते हैं। देखो, वे कैसे उस सरोवर की ओर जाते हैं और वापिस लौटते हैं[8]।"

यहाँ भ्रमरों की चेष्टाओं के वर्णन के द्वारा प्रेमी व्यंजित करता है कि शरद् का आगमन समीप है और शीघ्र ही कमल खिलने लगेंगे। चाहता तो वह इस बात को सीधे भी कह सकता था। और, अब देखें कि कवि अपनी प्रिया को किस प्रकार संबोधित करता है :

"तुम्हारी दन्तावली की आभा का रूप धारण करते हुए पुष्पकेसर और तुम्हारी अलकों के वेष में मधु के लोभी भ्रमर कितने सुन्दर लगते हैं[9]।"

इस पद्य में वाच्यार्थ में अपह्नुति अलंकार है किन्तु एक अन्य अपह्नुति भी इसमें ध्वनित होती है। वह यह है कि 'तुम नारी के वेष में कमलिनी हो'। कवि यदि चाहता तो इसे वाच्य-रूप में भी कह सकता था।

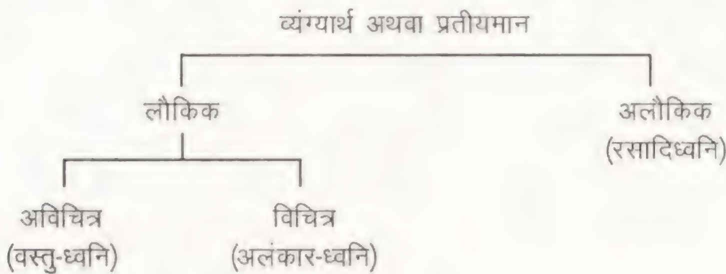
किन्तु तापसवत्सराज नामक नाटक के इस पद्य को देखें :

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि।।

जब वत्सराज को उसके मन्त्रियों ने महल में लगी आग में उसकी प्रिय रानी वासवदत्ता के जलकर मरने की सूचना दी तो उसे बड़ा धक्का लगा। रानी के लिए विलाप करते हुए राजा कहता है : "हे प्रिये, भय की उस अवस्था में तुम महल में इधर से उधर दौड़ती रही होगी, वक्ष से सरकते हुए वस्त्र का भी तुम्हें ध्यान नहीं रहा होगा। तुम्हारे वे दोनों नेत्र कातर होकर प्रत्येक दिशा में घूमते होंगे। और फिर भी उस क्रूर अग्नि ने तुम्हें जलाकर राख कर दिया। निश्चय ही धुएँ से अन्धा होकर वह उस अवस्था में पड़ी हुई तुम्हें देख नहीं सका।" इस पद्य

में 'ते लोचने' (तुम्हारे वे दोनों नयन) को ही देखें। ये दो शब्द राजा द्वारा अनुभूत विविध प्रकार के अनुभवों का संसार दर्शक के सामने रख देते हैं। इन्हीं दो नयनों ने उदयन को मुग्ध किया था और उसके हृदय को वासवदत्ता की ओर बलात् आकृष्ट किया था। इन्हीं नयनों ने अनेक भावमय संदेश उदयन के हृदय तक पहुँचाए थे। ये वे नयन थे जो विविध भावदशाओं को प्रतिबिम्बित कर चुके थे, जिन्होंने उज्जयिनी में उदयन को अपना बन्दी बना लिया था। यही नयन थे जिन्होंने उसके साथ भागते समय अपने माता-पिता से बिछुड़ने के दुःख और प्रेमी के साथ कभी समाप्त न होने वाले मिलन के आनन्द को मिश्रित रूप में व्यक्त किया था। इन, और ऐसे अनेक, मनोभावों को उदयन ने उन दो नयनों में प्रतिबिम्बित होते देखा होगा। और अब वे नयन स्मृतिशेष हो गए। उसके आनन्द के केन्द्रभूत वे नयन अब नहीं रहे। ऐसे अनेकों भावों की छायाएँ 'ते लोचने' इन दो शब्दों को सुनते ही हमारे मन में उठती हैं और राजा के शोक की तीव्रता को सीधे हम तक पहुँचा देती हैं। 'उदयन अत्यन्त दुःखी हुआ' या ऐसा कोई अन्य वाक्य इस अनुभव को हमारे हृदय तक संप्रेषित नहीं कर सकता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यंग्यार्थ दो प्रकार का है : एक, जिसे वाच्यार्थ में बदला जा सकता है और दूसरा, जिसे इस प्रकार बदला नहीं जा सकता। पहले प्रकार को 'लौकिक व्यंग्य' ओर दूसरे को 'अलौकिक व्यंग्य' कहा जाता हैं। पुनः लौकिक व्यंग्य दो प्रकार का है : वह जो किसी विचार या धारणा अथवा स्थिति को व्यंजित करता है और वह जो किसी अलंकार को व्यंजित करता है। ध्वनि के इस वर्गीकरण को निम्नलिखित सारिणी द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है :



अब **लोचन** का निम्नलिखित अंश पढ़ें :

"प्रतीयमानस्य तावद द्वौ भेदौ लौकिकः कविव्यापारगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचित्सहते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः।... अलंकारध्वनिः, वस्तुमात्रं च...। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो

न लौकिकव्यवहारपतितः किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचित–प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च ध्वनिरेव, स एव मुख्यतयात्मेति।"

लोचन का यह उद्धरण हमारे पूर्वोक्त कथन का स्पष्ट तौर पर समर्थन करता है। इतना ही नहीं, यह इस बात को भी घोषित करता है कि तीन प्रकार के व्यंग्यार्थों में रसध्वनि ही वास्तव में काव्य की आत्मा है। अन्य दोनों प्रकार, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि, वाच्यार्थ की तुलना में प्रधान होते हुए भी रसध्वनि के स्तर के नहीं हैं क्योंकि अन्ततः वे इसी में विलीन हो जाते हैं। अन्यत्र भी अभिनव स्पष्ट शब्दों में यही बात कहते हैं। वे कहते हैं : "रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।" **(लोचन)**

एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसी उद्धरण में अभिनव उस प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं जिसके माध्यम से सहृदय ध्वनि-काव्य को पढ़कर रसास्वाद के स्तर तक पहुँचता है। काव्य के शब्दों को पढ़ते या सुनते समय सहृदय नायक के साथ एकाकार हो जाता है जहाँ सुन्दर विभावादि उसके मानस नेत्रों के संमुख प्रत्यक्ष हो जाते हैं। फलतः रति आदि के रूप में वासना-संस्कार उसकी चेतना (संविद्) में उद्बुद्ध हो जाता है। विभावादि इसके साथ समुचित रीति से संयुक्त होकर इसे आस्वाद्य रस में बदल देते हैं और चर्वणा-व्यापार उत्पन्न होता है। इस सारी प्रक्रिया को दुहराना अनावश्यक है क्योंकि रस-सिद्धान्त के विवेचन के प्रसंग में हम इसकी व्याख्या कर चुके हैं। यह व्यञ्जना-व्यापार के नाम से प्रसिद्ध शब्द-शक्ति के माध्यम से होता है। रसचर्वणा अलौकिक है और इसलिए इसकी प्रक्रिया भी अलौकिक है और महान् कवियों की कृतियों में ही इसकी उपलब्धि होती है। इसलिए व्यंजना को काव्य-व्यापार कहा जाता है। इस रस के अभिधात्मक वाक्यों से उत्पन्न होने की कल्पना स्वप्न में भी नहीं हो सकती। वाचक शब्द केवल पूर्वास्वादित रस का अनुवाद कर सकता है, वह रस का अनुभावक नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन के शब्दों में : "स्वशब्देन तु सा केवलमनूद्यते, न हि सा तत्कृता।" इसलिए आनन्दवर्धन कवियों को यह बात न भुलाने की सलाह देते हैं कि उनकी कृतियों का लक्ष्य रसास्वाद की ओर ले जाना होना चाहिए (कविना सर्वथा रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्)।

ध्वनि एवं रस को ठोस नींव पर स्थापित करते समय अभिनवगुप्त अपनी सुदृढ़ दलीलों एवं द्वन्द्वात्मक कुशलता से तो हमें प्रभावित करते ही हैं किन्तु जब वे उन पद्यों में छुपे अर्थों को खोलते हैं जिन्हें आनन्दवर्धन ने और यदा-कदा स्वयं उन्होंने विभिन्न मुद्दों के विवेचन में उदाहृत किया है तब भी उनकी प्रतिभा हमें उतना ही चकित करती है। पांडित्य एवं साहित्यिक अभिरुचि (वैदग्ध्य) का अनुपम संयोग

हमें उनमें देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए **ध्वन्यालोक** में नीचे उद्धृत पद्य पर टिप्पणी देखें :

> तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां,
> क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
> विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
> ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः।।

(यमुनातट के वे लताकुंज, गोपियों की क्रीड़ा के साथी और राधा की एकान्त-क्रीड़ाओं के साक्षी वे कुंज, हे मित्र, सकुशल तो हैं ? अब तो उनमें रतिशय्या बनाने के लिए कोई उनके पल्लव नहीं तोड़ता होगा और इसलिए मुझे लगता है कि वे हरित पल्लव अब अपनी हरिताभा खोकर पीले पड़ गए होंगे)।

ध्वन्यालोक में यह पद्य इस बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहृत किया गया है कि वर्ण्य विषय यदि अचेतन पदार्थ हों तब भी, यदि उन पर चेतन व्यवहार का आरोप किया जाए तो, वहाँ ध्वनि-काव्य होता है (जहाँ रस प्रधान तत्त्व है), रसवद् अलंकार नहीं। अब देखें कि अभिनव यहाँ प्रधान तत्त्व के रूप में प्रतीयमान रस को किस प्रकार स्पष्ट करते हैं।

ये शब्द सुदूर द्वारिका में रहते समय कृष्ण द्वारा वृन्दावन से आए हुए अपने गोप-सखा से कहे गए हैं। 'तेषाम्' शब्द व्यंजित करता है कि ये लताकुंज अभी भी उनकी स्मृति में ताज़े थे क्योंकि वे गोपनीयता को बनाए रखने में गोपियों के नर्मसचिव (श्रृंगारसखा) थे और राधा के साथ कृष्ण की विलास-क्रीड़ाओं के साक्षी थे। गोप-सखा को देखकर यमुना-तट पर स्थित लता-कुंजों और विलास-क्रीड़ाओं की स्मृति एकदम कृष्ण के मानस में ताज़ा हो उठती है। राधा की, और स्थान की स्मृति यहाँ आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव का कार्य करती है। वे उनके सुप्त प्रेम-भावों (रति-वासना-संस्कार) को झकझोर देते हैं। वे अपने आपसे कहते हैं कि क्योंकि वे अब वृन्दावन में नहीं हैं अतः हरे पल्लव अब रति-शय्या के लिए नहीं तोड़े जाते और इसलिए अब वे मुरझा रहे होंगे। इससे वृन्दावन के प्रति उनकी उत्कंठा व्यभिचारी भाव के रूप में व्यंजित होती है और इस प्रकार संपूर्ण पद्य विप्रलम्भ श्रृंगार (प्रोषित-विप्रलम्भ) का व्यंजक है।

अभिनव की समीक्षात्मक दृष्टि इतनी गहराई तक जाती है कि वह कवि के हृदय के भीतर तक प्रविष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित पद्य पर **लोचन** देखें :

> या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।।

(कवियों की वह अभिनव दृष्टि, जिसका व्यापार समस्त रसों का आस्वाद कराने वाला है और वह वैदुष्यपूर्ण दृष्टि जो अर्थों के तत्त्व को प्रकाशित करने में प्रवृत्त होती है, इतने समय तक इन दोनों दृष्टियों का प्रयोग संसार को देखने में करते-करते हम थक कर चूर हो गए। हे समुद्रशायी भगवन्, कभी भी आपकी भक्ति के तुल्य सुख हमें इनमें से किसी में भी न मिल सका*)।

आनन्दवर्धन ने विरोध अलंकार के साथ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य नामक ध्वनि के भेद का संकर (मिश्रण) दिखलाने के लिए उदाहरण-स्वरूप इस पद्य को उद्धृत किया है।

अभिनव अपने **लोचन** में मात्र संकर को स्पष्ट करके नहीं रुक जाते। वे कवि के मर्म में उतरते हैं। 'व्यापारवती.....दृष्टि' शब्द यह ध्वनित करते हैं कि कविदृष्टि तुरन्त ही विभावों को प्रस्तुत करने और स्थायिभावों को आस्वाद्य बनाने में प्रवृत्त हो जाती है। 'काचित्' (अद्भुत) से व्यंजित होता है कि यह दृष्टि अपने आपको उद्घाटित करती है (उन्मीलयन्ती) और सामान्य दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। इसलिए यह 'नवा', नित्य नवीन, है और प्रतिक्षण जगत् को विविध रूपों में उद्घाटित करती है। इसलिए 'दृष्टि' का व्यंग्यार्थ 'प्रतिभा' है। दृष्टि का कार्य तो चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण है किन्तु यहाँ इसे स्थायिभावों को षाडव रस की भांति आस्वाद्य बनाने में नित्य क्रियाशील कहा गया है। इसलिए यहाँ विरोध अलंकार है। किन्तु यह विरोध नित्य नूतन दृष्टि (नवा दृष्टि) के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता है, अतः ध्वनि एवं विरोध का 'संकर' है। फिर 'दृष्टिर्या वैपश्चिती' द्वारा एक अन्य प्रकार की दृष्टि – शास्त्रदृष्टि – का उल्लेख किया गया है। 'ते द्वे अप्यवलम्ब्य' वाक्यांश से यह ध्वनि निकलती है कि वक्ता के पास न तो कविदृष्टि है, न ही वैदुष्यमयी दृष्टि, किन्तु जगत् के निरूपण के लिए उसने उन्हें कवियों एवं दार्शनिकों से उधार लिया है। अन्तिम पंक्ति की ध्वनि यह है कि 'हम अपने प्रयास में सफल नहीं हुए, अपितु इसके विपरीत परिश्रान्त हो चुके हैं।' 'अब्धिशयन' व्यंजित करता है कि 'आप अपनी योगनिद्रा में संसार के यथार्थ स्वरूप को जान चुके हैं।' 'त्वद्भक्तितुल्यम्' से व्यंजित होता है कि 'केवल आप ही सभी पदार्थों के सारभूत परमतत्त्व के स्वरूप को जानते हैं।' पंक्ति का तात्पर्य यह है कि आपकी भक्ति से प्राप्त होने वाले सुख की तुलना के योग्य भी कोई सुख हमें नहीं मिला, उससे अभिन्न सुख की तो बात ही क्या।

---

*इस श्लोक और इससे पिछले श्लोक का मूल अंग्रेज़ी पुस्तक में दिया हुआ अनुवाद डॉ. कृष्णमूर्ति का है। (अनु.)

यह पद्य उस कवि का उद्‌गार है जिसने आरम्भ परमेश्वर की भक्ति से किया और फिर कुतूहलवश कवियों और दार्शनिकों, दोनों के मार्गों को अपनाया और अन्ततः अनुभव किया कि भक्ति के मार्ग से ही उसे विश्रान्ति मिल सकती है और इसलिए मात्र यही मार्ग उसके लिए उपयुक्त है। (यह पद्य स्वयं आनन्दवर्धन द्वारा रचित है। तो क्या अभिनव आनन्दवर्धन के निजी अनुभव की ओर संकेत कर रहे हैं ?)

टिप्पणी के अन्त में अभिनव पद्य का सार इन शब्दों में बतलाते हैं : चाहे प्रमाणों द्वारा निश्चित दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के पदार्थों के ज्ञान से मिलने वाला आनन्द हो अथवा रसानुभव की चर्वणा से मिलने वाला अलौकिक आनन्द ही क्यों न हो, ईश्वर में विश्रान्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द की तुलना में ये दोनों बहुत पीछे हैं और रसास्वाद तो केवल उस परमानन्द के एक कण मात्र का अवभास है[10]।

ध्वनि की अवधारणा ने, जिसे आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित एवं विकसित किया और अभिनवगुप्त ने जिसे तार्किक रूप से पुष्ट किया और अन्तिम रूप से सुदृढ़तया स्थापित किया, भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में संपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न कर दी। ध्वनि-सिद्धान्त के उद्‌भव से पूर्व काव्य का वर्गीकरण रूपगत था। यह काव्य-कृतियों की बाह्य संरचना पर आधारित था। काव्य को पहले दृश्य एवं श्रव्य में विभाजित किया जाता था। नाटक को दृश्य और शेष काव्य को श्रव्य माना गया। फिर श्रव्य का विभाजन गद्य एवं पद्य में किया जाता था; पद्य को सर्गबन्ध और मुक्तक में विभाजित किया गया। यह विभाजन केवल रूपगत था। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना और अन्ततः ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर काव्य का वर्गीकरण तार्किक और रस की अवधारणा पर आधारित हो गया। रस की प्रधानता वाला काव्य ध्वनि-काव्य के नाम से उत्तम काव्य माना गया। जहाँ रस मात्र गुणभूत हो उसे 'गुणीभूतव्यंग्यकाव्य' कहा गया। इस दूसरे प्रकार में ध्वन्यर्थ वाले अलंकार भी समाविष्ट थे। अवशिष्ट काव्य, जिसमें रस या भाव का संस्पर्श अत्यन्त विरल या बिल्कुल ही न हो और जिसमें मात्र अभिव्यक्ति की भंगिमा की विविधता पर ज़ोर हो, चित्रकाव्य कहा गया और अधम काव्य माना गया। **ध्वन्यालोक** के तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने इसे स्पष्ट किया है।

इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि तीसरे प्रकार अर्थात् चित्रकाव्य को काव्य की श्रेणी में रखा ही कैसे जा सकता है। आनन्दवर्धन इसके उत्तर में कहते हैं कि जहाँ तक उनका प्रश्न है, वे चित्रकाव्य को काव्य-प्रकार मानने के पक्ष में नहीं हैं। किन्तु ऐसे काव्य की रचना करने वालों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया और उन्हें कवि की पदवी भी मिल गई। ऐसी स्थिति में उन्हें ऐसे रचनाकारों और उनकी

रचना के लिए काव्यशास्त्र के सामान्य वर्गीकरण में स्थान बनाना पड़ा। यहाँ आनन्दवर्धन की स्थिति कुछ समझौतावादी दिखलाई देती है (**इंडोलॉजिकल पेपर्स**, पृ॰ 134)। किन्तु अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं कि 'चित्र' कदापि काव्य नहीं है। काव्यशास्त्रीय संरचना में इसके उल्लेख का प्रयोजन केवल इतना बतलाना है कि इस प्रकार का काव्य सर्वथा त्याज्य है (अकाव्यं हि तत् हेयतयोपदिश्यते)। उनके मत में काव्य दो ही प्रकार का है : 'ध्वनि', एवं 'गुणीभूतव्यंग्य'।

ध्वनि-सिद्धान्त की स्वीकृति का दूसरा फल यह हुआ कि काव्यशास्त्रीय चिन्तन में गुण, अलंकार एवं संघटना की स्थिति तार्किक रूप से स्थापित हो गई और गुण और अलंकार एवं रीति और संघटना की स्थिति का भेद ठीक-ठीक स्पष्ट हो गया।

काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्यों का एक प्रयास यह खोजने का रहा है कि काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व (काव्यशोभाकर धर्म) कौन सा है। दण्डी और भामह के समय में शोभा-आधायक धर्म अलंकार को माना जाता था। दण्डी ने अलंकार को साधारण एवं असाधारण में विभाजित किया है। असाधारण अलंकार के अन्तर्गत वे गुण का समावेश करते हैं। वामन इस विचार को और आगे ले गए और उन्होंने दण्डी के असाधारण अलंकार, अर्थात् गुण का विश्लेषण किया और दिखलाया कि गुणों में कान्तिगुण प्रधान है। उन्होंने रस को कान्तिगुण के अन्तर्गत रखा। किन्तु वामन ने गुण और रीति के बीच भेद नहीं किया। उद्भट ने रीति को चरम रूप में संघटना पर आश्रित माना। उद्भट ने रस को 'रसवत्' अलंकार में समाविष्ट माना जबकि वामन ने इसे कान्तिगुण के अन्तर्गत रखा। रुद्रट ने, जो वामन के बाद हुए, रस को काव्य के सहज गुण के रूप में स्वीकार किया[11]। आनन्दवर्धन ने **ध्वन्यालोक** के तृतीय उद्योत में इन सभी मतों पर एकत्र विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि इन सभी आचार्यों को ध्वनि की अवधारणा का अस्फुट आभास तो था किन्तु व्यंजना और रस की धारणा को वे स्पष्टतया ग्रहण नहीं कर सके और इसलिए काव्य के इन पक्षों के पारस्परिक संबन्ध का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं कर सके। आनन्दवर्धन इस बात को एक कारिका में स्पष्ट कहते हैं :

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः।।

अतः निष्कर्षभूत स्थिति यह है कि रस आत्मा है और गुण उस आत्मा के गुण हैं। रीति एवं संघटना गुण पर आश्रित हैं। गुण रस को उत्पन्न नहीं करते; वे इसे अभिव्यंजित करने के साधन हैं। इस प्रकार, काव्य में रीति, गुण और अलंकार का स्थान रस के व्यंजक तत्त्वों के रूप में है। अतः अभिनवगुप्त ने निष्कर्षतः रीति

की स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

"तेन माधुर्यादयो गुणास्तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरीचादीनां संघातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं तदेव रीतिरित्युक्तम्।" (अ॰भा॰)

इस प्रकार माधुर्यादि गुण उपयुक्त वृत्ति के प्रदर्शन से संबद्ध होकर रीति में एक एकीकृत समग्रता का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रसंग में एक रोचक तथ्य यह है कि रीति के स्वरूप को स्पष्ट करते समय भी अभिनव पानक रस का उपमान देते हैं और रस की अवधारणा की व्याख्या में भी उन्होंने इसी उपमान का प्रयोग किया है (**इंडोलॉजिकल पेपर्स**, पृ॰ 117)।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त को अन्तिम रूप दिया और काव्य के विविध तत्त्वों के संदर्भ में एक समग्रता के रूप में इसे एक निश्चित आकार और स्तर प्रदान किया। इस अवधारणा के विषय में अभिनव के दृष्टिकोण का ही अनुसरण उनके परवर्तियों ने किया और आगे चलकर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसी को आगे बढ़ाया। मात्र जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे विवरणों की दृष्टि से उन्होंने अपने विचार इसमें जोड़े।

तीसरे, काव्यदोषों की अवधारणा की युक्तिसंगत व्याख्या की गई और इसका आधार औचित्य की धारणा को बनाया गया। ध्वनि-सिद्धान्त के उद्‌भव से पूर्व काव्यदोष मात्र गिना दिये जाते थे। किन्तु ध्वनिकाव्य की अवधारणा और उसकी आत्मा के रूप में रस की स्वीकृति के साथ काव्यदोषों की धारणा पूरी तरह संशोधित की गई। दोष, गुण और अलंकार की यह संशोधित स्थिति मम्मट के शब्दों में संक्षेप में इस प्रकार थी –

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्।

(काव्यप्रकाश)

शब्दार्थ एवं रस का संबन्ध शरीर, और आत्मा के संबन्ध की भाँति है। रस काव्य की आत्मा है और शब्दार्थ उसका शरीर। गुण जो द्रुति, विकास और विस्तार स्वरूप हैं, रस से उसके गुणों के रूप में प्रत्यक्षतः संबद्ध हैं। अलंकार गुणों की भाँति सीधे तौर पर नहीं अपितु शब्दार्थ के माध्यम से रस की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही जैसे आभूषण शरीर के माध्यम से व्यक्ति को सुन्दर बनाते हैं। दोष वे हैं जो रस की अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं क्योंकि दोष का सामान्य स्वरूप ही रस के संदर्भ में 'औचित्य का अभाव' है; आनन्दवर्धन के शब्दों में : "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्"। अभिनवगुप्त ने एक कारिका में दिखलाया है कि कैसे

गुण और दोष का विवेचन रस के संदर्भ में उनके औचित्य और अनौचित्य के आधार पर होना चाहिए। अभिनव के बाद क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचार पर एक स्वतन्त्र कृति की रचना की और स्पष्ट किया कि गुण और दोष किस प्रकार औचित्य पर आधारित हैं।

चौथे, अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में काव्य का मूल कवि की प्रेरणा अर्थात् प्रतिभा में बतलाया। यद्यपि सभी आलंकारिकों ने प्रतिभा को काव्य-रचना का मूल कारण माना था तथापि प्रतिभा की अवधारणा को सर्वप्रथम आनन्दवर्धन और अभिनव ने ही स्पष्ट किया और उसकी विस्तृत व्याख्या की। इस अवधारणा को हम आगे एक स्वतन्त्र अनुभाग में संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

और अन्त में, अभिनव ने यह दिखलाया कि व्यंजना-व्यापार, रस की अभिव्यक्ति और समस्त काव्य-व्यापार, काव्य-रचना से लेकर रसास्वाद तक, एक सतत प्रक्रिया है। इस व्यापार के एक छोर पर शब्दों में अभिव्यक्त होने के लिए उद्यत, रस-तत्त्व से परिपूर्ण कवि–मानस है और दूसरे छोर पर काव्य के रसात्मक प्रभाव के आस्वाद को ग्रहण करने के लिए तत्पर सहृदय है। अभिनव ने इसे कविसहृदयाख्यसरस्वतीतत्त्व अर्थात् कविसहृदय नामक इकाई के रूप में अभिव्यक्त और आस्वादित वाणी का तत्त्व कहा है[12] क्योंकि दोनों ही में प्रतिभा की आवश्यकता है। प्रतिभा के बिना कवि रस को उत्पन्न नहीं कर सकता और प्रतिभा के बिना सहृदय रसास्वाद नहीं कर सकता।

(ख) अभिनवगुप्त का संगीत-दर्शन

संगीतरत्नाकर के रचयिता शाङ्र्गदेव ने अभिनवगुप्त को संगीत का महान् आचार्य कहा है। मधुराज योगी ने ध्यान-श्लोकों में उनका जो चित्रण किया है उसके अनुसार वे नादवीणा बजा रहे हैं और शिष्यों को संगीत की शिक्षा दे रहे हैं। इसलिए संगीतकला पर उनके चिन्तन के विषय में कुछ शब्द लिखना आवश्यक है; इसलिए भी, क्योंकि हम उनके रस-संबन्धी चिन्तन पर विचार कर रहे हैं। सच तो यह है कि संगीतकला से नितान्त अनभिज्ञ होने के कारण मैं इस कला के प्रति उनके योगदान पर कुछ भी लिखने का अधिकारी नहीं हूँ। फिर भी, **तन्त्रालोक** में उपलब्ध कुछ कथनों के आधार पर शायद मैं संगीत के विषय में कुछ दार्शनिक बिन्दुओं से पाठक को परिचित करा सकूँ।

संगीत का संबन्ध व्यक्त और अव्यक्त, दोनों प्रकार की ध्वनि से है। अभिनव ने उनके विषय में जो लिखा है उसका आधार ध्वनि के मूल स्रोत के विषय में शैवागमों के कथन हैं। शैव दर्शन में समग्र विश्व का परमतत्त्व से वैसा ही संबन्ध है जैसा बाह्य पदार्थ का अपने दर्पणगत प्रतिबिम्ब के साथ है। परमतत्त्व

अनेकता में एकता है। यह प्रकाश (चैतन्य का आलोक) और विमर्श अथवा स्वातन्त्र्यशक्ति का अखंड एकत्व है। जगत् को मोटे तौर पर दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है : (क) वाच्य, और (ख) वाचक। सार्थक ध्वनियाँ वाचक हैं और जिसे वे ध्वनियाँ व्यक्त करती हैं वह वाच्य है। वाच्य एवं वाचक का संबन्ध अखंड है। वाच्य सारतः प्रकाशस्वरूप है और वाचक विमर्शस्वरूप है।

रसानुभूति के विवेचन में हम देख चुके हैं कि जब प्रयोजन शुद्ध रूप से कलात्मक है अर्थात् जब प्रमाता वैयक्तिकता से मुक्त होता है तो साधारणीकृत आत्मा में प्रतिबिम्बित होकर विषय केवल एक आलोड़न उसमें उत्पन्न करते हैं और उसके आनन्द पक्ष को प्रधान बना देते हैं जो आस्वाद का विषय बन जाता है। जब सहृदय मधुर संगीत सुनता है तब भी ठीक यही स्थिति होती है। सामान्य जीवन में भी किसी गीत का मधुर स्वर जब हमारे कानों में पड़ता है या हमारी त्वचा चन्दन आदि का स्पर्श अनुभव करती है और हम पल भर के लिए इस अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं तो हमारा हृदय एक आलोड़न् का अनुभव करता है। यह आलोड़न आनन्दशक्ति के उदय के कारण होता है। आनन्दशक्ति का यह आलोड़न होने पर ही प्रमाता को सहृदय कहा जाता है। जैसा अभिनव कहते हैं :

तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके।
माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता।।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः।।

(**त॰आ॰**, II. 200)

संगीत से होने वाला रसानुभव विश्वातीत आनन्द का अनुभव है।

वाच्यवाचकभाव में, वाच्य में प्रकाश की प्रधानता है जबकि वाचक में विमर्श की प्रधानता है। वर्णों को प्रकट करने वाली शक्ति के रूप में विमर्श-शक्ति को परावाक् कहा जाता है (चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता)। विमर्श से अभिन्न इस परावाक् को ही संगीत में 'परनाद' कहा जाता है।

परावाक् अथवा परनाद प्रकाश या चैतन्य के साथ अभेद की अवस्था है। जब यह अपने को अभिव्यक्त करता है तो इसकी तीन क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं : पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। स्थूल नाद में इन तीनों अवस्थाओं का एकीकरण होता है।

परावाक् (अथवा परनाद) वाच्य अर्थ (अथवा वाचक शब्द) के साथ पूर्ण अभेद की स्थिति है। अभिव्यक्ति की अवस्था में भेद का क्रमशः आविर्भाव होता है। प्रथम अवस्था में भेद अत्यन्त सूक्ष्म है और इसलिए प्रत्यय से पृथक् रूप में ध्वनि की

अस्फुट चेतना होती है। इस अवस्था को पश्यन्ती कहा गया है। अगली अवस्था में भेद का बोध केवल मानसिक स्तर पर होता है। यह पश्यन्ती और वैखरी (स्थूल ध्वनि) की मध्यवर्ती अवस्था है और इसलिए इसे मध्यमा कहा गया है। तीसरी अवस्था में प्रत्यय अथवा विचार से ध्वनि का भौतिक भेद स्पष्ट हो जाता है क्योंकि शरीर में वागिन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न होने के कारण ध्वनि भौतिक है। इसे वैखरी कहते हैं क्योंकि स्थूल ध्वनि शरीर से उत्पन्न होती है (विखरे शरीरे भवा वैखरी)। परावाक् की अभिव्यक्ति में तीन अवस्थाओं की यह अवधारणा भाषा और संगीत दोनों के प्रसंग में समान रूप से लागू होती है।

सांगीतिक ध्वनि किसी प्रत्यय अथवा विचार को व्यक्त नहीं करती और इसलिए यह अव्यक्त ध्वनि है। उच्चारण-स्थानों में वायु के संचालन से उत्पन्न होने पर भी संगीत की श्रुतियाँ अव्यक्त कहलाती हैं क्योंकि उनमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। आलाप में नाद वर्ण द्वारा विभाजित नहीं होता और इसी पर उसके संगीतमय माधुर्य का सौन्दर्य अवलम्बित है।

संगीत में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इनमें से प्रत्येक के तीन रूप हैं। सांगीतिक श्रुतियाँ स्थूल, सूक्ष्म अथवा पर हैं। आलाप में सांगीतिक स्वर स्थूल पश्यन्ती-स्वरूप हैं[13]।

श्रुतियों का माधुर्य उनके अव्यक्त होने के कारण होता है क्योंकि व्यक्तता विभाग उत्पन्न करती है[14]। अतः सांगीतिक श्रुतियों का 'परनाद' से घनिष्ठ संबन्ध है क्योंकि वे पश्यन्ती अवस्था से संबद्ध हैं। इसलिए संगीत-श्रुतियों पर एकाग्र किया हुआ ध्यान श्रोता को लोकातीत स्तर तक उठा देता है। इस धरातल पर जो अनुभव होता है वह परनाद का अनुभव है। इसीलिए संगीत को नादब्रह्म कहा गया है। रस के प्रसंग में हम पहले देख चुके हैं कि विमर्श, आनन्द एवं परावाक् परतत्त्व के ही रूप हैं। परनाद की अवस्था परावाक् की ही अवस्था है। इसलिए परनाद की अवस्था का आनन्द व्यतिरेक तुर्यातीत का आनन्द है।

स्रोत (वागिन्द्रिय) से उत्पन्न संगीत-श्रुतियाँ स्थूल पश्यन्ती हैं जबकि संगीत-वाद्य से उत्पन्न श्रुतियाँ स्थूल मध्यमा हैं[15]।

पश्यन्ती और मध्यमा के सूक्ष्म रूप संगीत-श्रुतियों की उत्पत्ति में निहित मानसिक प्रक्रिया में होते हैं। उनका संबन्ध चित् की इच्छा-अवस्था (अर्थात् चिदानन्देच्छाज्ञानक्रिया) से है जैसा शैवों ने स्पष्ट किया है। किन्तु पररूप में सभी सांगीतिक स्वर शिव के साथ एकात्मरूप हैं।

किसी कलाकृति का कलागत सौन्दर्य सारतः उस कलाकृति की अन्तर्वस्तुओं की स्वारस्यपूर्ण एकात्मता है (अभिनव के शब्दों में : अविभागैकरूपत्वं माधुर्यम्)।

नाटक और काव्य में यह स्वारस्यभूत एकात्मता विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और व्यंजित स्थायी भाव की होती है। गीत अथवा वाद्य-संगीत में मानवीय वागिन्द्रिय एवं वाद्य से उत्पन्न स्वरों की स्वारस्यपूर्ण एकात्मता संगीत को सुन्दर बनाती है। मनुष्य के हृदय को मुग्ध करने की संगीत की शक्ति इसी एकात्मता से उद्भूत होती है जैसे काव्य की शक्ति उसकी अन्तर्वस्तुओं के संयोग में होती है। संगीत के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करने वाली विमर्श-शक्ति को परनाद कहते हैं और वही शक्ति जब काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है तो परावाक् या परा वाणी कहलाती है।

अभिनवगुप्त ने चार श्लोकों में कवि की सर्जन-शक्ति की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है। ये चारों श्लोक **ध्वन्यालोकलोचन** के चारों उद्योतों में क्रमशः प्रत्येक उद्योत के समापन श्लोक के रूप में दिये गए हैं। वे चारों श्लोक यहाँ एक साथ प्रस्तुत हैं :

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां पराम्।। १।।

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद् भेदेनासूत्र्यते यया।
बन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तमिदं जगत्।। २।।

आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम्।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम्।। ३।।

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम्।। ४।।

(1) अपने आप में ही विश्रान्त परा प्रतिभा की मैं वन्दना करता हूँ जिसके जागते ही समग्र विश्व क्षण भर में जाग्रत हो जाता है; (2) मैं अभिनवगुप्त उस पश्यन्ती को प्रणाम करता हूँ जो क्रमशः आविर्भूत होने वाले भेदों को व्यवस्थित या प्रकट करती है और उन्हें जगत् नामक एक समग्रता के रूप में ग्रहण करती है; (3) मैं शिवप्रिया शक्ति अर्थात् मध्यमा को प्रणाम करता हूँ जो एक समग्रता में गुंफित विविध रूपों को स्फुटता प्रदान करती है; (4) प्रतिभा की उस चतुर्थ अवस्था (वैखरी) को मैं प्रणाम करता हूँ जो स्फुटीकृत विविध रूपों को अपने से पृथक्-रूप में बाह्य जगत् में प्रदर्शित करती है।

ये चार पद्य कवि-सृष्टि की चार अवस्थाओं को व्यंजित करते हैं। कवि हमारे साथ दैनिक जीवन के सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ इस साधारण जगत् में हमारे साथ ही विचरण करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु उसके पास शुद्ध हृदय है, उसके पास सामान्य मनुष्य की निजी अपेक्षाओं से अप्रभावित रहने वाला मानस

है और इसलिए वह सांसारिक वृत्तियों को निर्वैयक्तिक दशा में ग्रहण करने में सक्षम है। इसलिए वे सांसारिक अनुभव भी उसके संमुख वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे शुद्ध (साधारणीभवन की) अवस्था में, और उसके चित्त में संस्कारों के रूप में पड़े रहते हैं। कवि के मन की यह स्थिति लोकातीत है। इस अवस्था के सांसारिक अनुभवों के संस्कार निस्तरंग विश्रान्ति की स्थिति में रहते हैं और उसके व्यक्तित्व के साथ एकाकार हो जाते हैं । जब वह उन्हें लोकतीत अवस्था में देखना चाहता है तो उसके व्यक्तित्व का वह अंश उसके ज्ञान का विषय बन जाता है जिसे वह देखना चाहता है। उसकी अहं-ता इदं-ता बन जाती है। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं : (क) वह जो साधारणीभूत प्रमाता में विश्रान्त है, और (ख) वही जब उसके ज्ञान का विषय बनता है। इस प्रकार परावाक् अथवा ऊपर प्रथम पद्य में कथित परा प्रतिभा, जो आत्मा से अभिन्न थी, अब विषयता को प्राप्त हो जाती है। यह स्मरणीय है कि इस दशा में प्रमाता एवं विषय तथ्यतः एक ही हैं किन्तु उनकी परिकल्पना प्रमाता और विषय के रूप में होती है। उसके अपने आत्मा के रूप में जो उसमें विश्रान्त था वह अब ज्ञान के विषय के रूप में उसके संमुख है। आत्मविश्रान्ति की दशा में प्रतिभा का नाम परावाक् है और जब वही प्रतिभा अपने आपको एक विषय के रूप में देखती है तो वह 'पश्यन्ती' कहलाती है। जैसे-जैसे विषय के रूप में आत्मदर्शन की यह प्रक्रिया चलती है वैसे-वैसे विविध भेद अथवा समग्र के अवयवभूत तत्त्व उसके समक्ष स्पष्ट होते जाते हैं। यह मध्यमा की दशा है। किन्तु यहाँ भी प्रमाता एवं विषय एक ही धरातल पर (समानाधिकरण) हैं यद्यपि प्रमाता विषय को अपने आप से भिन्न रूप में देखता है। किन्तु वैखरी नामक चतुर्थ दशा में वाक् स्थूल शब्द के रूप में प्रकट होती है और अन्य लोगों द्वारा प्रमाता से पृथक् रूप में सुनी जाती है।

इस प्रकार संगीत में जिसे परनाद कहते हैं वही वाणी में परावाक् है। कविसृष्टि के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने इसी शक्ति को 'प्रतिभा' नाम दिया है। 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' एवं 'प्रतिभा पूर्वजन्मोपार्जितः संस्कारः कश्चित्', ऐसे वाक्य हम प्रायः सुनते हैं। इन और ऐसे अन्य वाक्यों के तात्पर्य को समझने के लिए प्रतिभा का अध्ययन और गहराई से करना होगा। इसलिए अब वही विचार करें।

(ग) प्रतिभा

अभिनव ने आध्यात्मिक, धार्मिक, तत्त्वमीमांसीय एवं सौन्दर्यशास्त्रीय, अनेक प्रसंगों में प्रतिभा की चर्चा की है। यह चर्चा **तन्त्रालोक** एवं **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में अनेक स्थलों पर मिलती है। हम सर्वप्रथम प्रतिभा के तत्त्वमीमांसीय पक्ष की चर्चा करेंगे जिस पर सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष भी आधारित हैं। हम मुख्यतः इसे प्रत्यभिज्ञा के दृष्टिकोण से देखेंगे।

सर्वप्रथम तीसरे अध्याय में विवेचित शैवाद्वैत दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को फिर से याद कर लेना उपयुक्त होगा। शैवाद्वैत दर्शन सर्वाभिव्यापक चैतन्य को मानता है और उसे 'महेश्वर' कहता है। महेश्वर विविध संज्ञानों को अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा एकीकृत अथवा पृथक् करने के लिए स्वतन्त्र है। इसके तीन पहलू हैं : (1) ज्ञानशक्ति, (2) स्मृतिशक्ति, और (3) अपोहनशक्ति। ये शक्तियाँ विश्व-चैतन्य में स्थित रहती हैं। वे विश्व-चैतन्य के साथ एकाकार हैं जो स्वेच्छया उनका पृथक्-पृथक् या संयुक्त रूप से उपयोग करने अथवा अपने साथ तादात्म्यीकृत रूप में उन्हें अपने आप में विलीन करने के लिए स्वतन्त्र है।

विषयता की चेतना एक अविवाद्य तथ्य है फिर भले ही उस विषयता का संबन्ध जिस वस्तु से है वह साक्षात् उपलब्ध हो या स्मरण का विषय हो अथवा कल्पित हो। विषयता की यह चेतना क्या है ? इसमें दो तत्त्व हैं :

(1) ज्ञान का साधन (प्रमाण) जो वास्तव में चैतन्य का बहिर्मुखी प्रकाश है जिसे हम बुद्धि अथवा चित्त कहते हैं; (2) इसकी प्रभावित स्थिति, अर्थात् अनुभव की स्थिति में बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब, अथवा स्मृति या कल्पना की स्थिति में आन्तर वस्तु का प्रतिबिम्ब। विषयता की इस चेतना को हम शास्त्रीय शब्दावली में प्रतिभा कहते हैं।

विषयता की इस चेतना की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह चैतन्य के अन्तर्मुखी प्रकाश पर आश्रित है। चैतन्य का यह अन्तर्मुखी प्रकाश बुद्धि में बहिर्मुख प्रकाश से मिल जाता है और उसे नियन्त्रित करता है। नियन्त्रण करने वाला अन्तर्मुखी प्रकाश महेश्वर का प्रकाश है। यह स्वतन्त्र चिति है जो स्वप्न एवं कल्पना के सहित संपूर्ण विषयता को प्रदर्शित करती है। यह कवि का कल्पनाशील चित्त है जो काव्य में प्रस्तुत तत्त्वों के संस्थान को चित्रित करता है। यह स्वतन्त्र इच्छा से युक्त है क्योंकि यह इच्छा मात्र से वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले योगी की भाँति इस विश्व को अभिव्यक्त करता है।

प्रतिभा शब्द 'प्रति'-पूर्वक 'भा' धातु से व्युत्पन्न होता है। 'भा' धातु प्रकाशित होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है किन्तु प्रतिभा का अर्थ है : 'के प्रति प्रकाशित होना'। 'प्रति' उपसर्ग यहाँ लक्षण (सूचक चिह्न अथवा कार्य) के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'प्रतिभा' शब्द, जिसका अर्थ है 'प्रतिभाति', सूचित करता है कि विषय प्रमाता के प्रति प्रकाशित होता है, अर्थात् उसका अपना स्वतन्त्र प्रकाश नहीं है। इसका प्रकाश कवि के स्वतन्त्र मन में संयुक्त होकर ही स्थित है। **कठोपनिषद्** के निम्नलिखित मन्त्र से इसका समर्थन होता है :

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(संपूर्ण वस्तु-जगत् ब्रह्म से संबद्ध होकर ही प्रकाशित होता है। यह ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होता है।)

यहाँ प्रयुक्त शब्द 'प्रतिभाति' न होकर 'अनुभाति' है। 'अनु' और 'प्रति' उपसर्ग यहाँ लक्षण के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं जैसा पाणिनिसूत्र 1-4-90 में कहा गया है[16]। अतः उपनिषद् का भी यही कहना है कि विषयता अपने आप से प्रकाशित नहीं होती। इसका प्रकाशित होना आत्मा अथवा ब्रह्म के प्रकाश पर अवलम्बित है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। परमतत्त्व एक है, फिर देश-काल संबन्ध से प्रकाशित होने वाली अनेकता कहाँ से उद्भूत होती है ? इस पर प्रत्यभिज्ञा का उत्तर है कि आत्मा अथवा महेश्वर से अभिन्न उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति (शक्तिशक्तिमतोरभेदः) विषय की असंख्य विविधता को प्रदर्शित करती है। रूप और क्रिया की दृष्टि से ये पदार्थ भिन्न हैं और इसलिए महेश्वर से पृथक् रूप में देश-काल-क्रम से भासित होते हैं। इसलिए प्रतिभा चैतन्य का बहिर्मुखी प्रकाश है। पदार्थों की देशकाल के क्रम में व्यक्त होने वाली विविधता से यह उसी प्रकार संयुक्त होती है जिस प्रकार दर्पण उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ से संयुक्त होता है।

अपने प्रकट रूप में प्रतिभा में देश-काल का क्रम दिखलाई देता है किन्तु अपने आप में यह क्रमरहित है। पुनः, विषयता की चेतना में, संवेदनों को संपूर्ण इकाइयों में व्यवस्थित करने, एक दूसरे से उनका भेद पहचानने और इन इकाइयों को संबद्ध करके मन की दृष्टि के समक्ष प्रकट हो सकने योग्य एक बड़ी इकाई बनाने के मानसिक व्यापार पूर्वापेक्षित हैं। ये मन के अन्तर्मुखी पक्ष के व्यापार हैं। इस मन को 'प्रमाता' कहा गया है; यह स्वतन्त्र है (स्वतन्त्रः कर्ता) और अपने आप में देश-काल आदि की समस्त सीमाओं से मुक्त शुद्ध प्रमातृनिष्ठ चैतन्य है। संपूर्ण विषयता इसी प्रमाता के प्रति प्रकाशित होती है और अनिवार्यतः इसी से संबद्ध होती है।

अभिनव कहते हैं कि विषयता की चेतना के रूप में प्रतिभा सभी के अनुभव में आती है। किन्तु प्रतिभा के विषय में बात करते हुए चैतन्य के अन्तर्मुखी प्रकाश – जिसके संदर्भ में ही प्रतिभा 'प्रति-भा' है – पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि वक्ता इसके संबन्ध में अज्ञान से युक्त है। प्रत्यभिज्ञा में प्रतिभा के विवेचन का प्रयोजन वस्तुनिष्ठ चेतना के प्रमातृनिष्ठ आधार की ओर ध्यान आकृष्ट करना है।

प्रतिभा चैतन्य के अन्तर्मुखी प्रकाश पर अवलम्बित है और उससे अभिन्न रूप में स्थित है। अब यदि हम प्रतिभा को इस अन्तर्मुखी प्रकाश अर्थात् शुद्ध प्रमातृनिष्ठता से विलग रूप में न लें और यदि हम यह स्मरण रखें कि (1) विषय की चेतना में ऐन्द्रिय प्रदत्तों का चयन, व्यवस्थापन एवं विवेचन अनिवार्य है; (2) कि बाह्य

विषयता विश्वचित्त के चिन्तन से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है ; और (3) कि व्यष्टि मन सारतः समष्टि मन से अभिन्न है, तो प्रतिभा यथार्थतः महेश्वर ही है जैसा उत्पलाचार्य ने **प्रत्यभिज्ञाकारिका** में कहा है :

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।।

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार परम सत्ता विश्वातीत भी है और विश्वमय भी। विश्वातीत या विश्वोत्तीर्ण रूप में इसे अनुत्तर कहा गया है। विश्वमय रूप में इसे तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से 'महेश्वर' नाम दिया गया है। प्रत्यभिज्ञा का मानना है कि व्यक्ति का अनुभव वास्तव में विश्वात्मा का अनुभव है और, कि प्रतिभा द्वारा जब सत्य का यथावत्, अर्थात् आत्मा से अभिन्न रूप में, साक्षात्कार किया जाता है तो प्रतिभा सद्विद्या ही है।

प्रतिभा के तत्त्वमीमांसीय पक्ष के विवेचन में हमने महेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति की चर्चा की है। सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष की दृष्टि से यह कवि का स्वतन्त्र चित्त है जैसा कि आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित पद्य में कहा है :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

हमारे इस संसार की रचना प्रजापति करते हैं। किसी भी कार्य की सृष्टि के लिए हमें उसे निर्मित करने वाले उपादान एवं करण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, घटनिर्माण के लिए आवश्यक कुशलता होते हुए भी मिट्टी (उपादान कारण) और कुम्हार के चाक के बिना यह संभव नहीं। जगत् के स्रष्टा प्रजापति ब्रह्मा को भी संसार की रचना के लिए परमाणुरूप उपादान और कर्मफलरूप निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। किन्तु कवि की सृष्टि ! उसे काव्यजगत् के सृजन के लिए अपनी सामर्थ्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। कवि की रचनाशक्ति का ऐसा विलक्षण स्वरूप है कि वह मात्र अपनी इच्छा की भित्ति पर जगत् को प्रकट करता है। जैसा क्षेमराज **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में कहते हैं :

"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"

संक्षेप में कहें तो काव्यजगत् के रूप में कवि अपने आपको ही व्यक्त करता है। अपनी काव्य-प्रतिभा के अलावा वह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं। उसकी इच्छाशक्ति का यह स्वातन्त्र्य काव्यजगत् के प्रसंग में प्रतिभा कहलाता है।

कविसृष्टि के प्रसंग में इसे प्रतिभा कहते हैं और महेश्वर जब अपने आपको व्यक्त करते हैं तो उस संदर्भ में इसके लिए 'पराप्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया

जाता है। प्रतिभा के रूप में परा (अर्थात् परावाक्, पराशक्ति) की यह तत्त्वमीमांसीय अवधारणा ही प्रतिभा (कविदृष्टि) की काव्यसंबन्धी धारणा का मूल रही होगी। कविप्रतिभा अपने अन्तर्गत समस्त काव्य-धारणाएँ समेटे रहती है; परा प्रतिभा अभिव्यक्त होने वाले पदार्थों की अनन्त विविधता को अपने भीतर समाहित रखती है। कविप्रतिभा कल्पना द्वारा सर्वथा नूतन सृष्टि का निर्माण करने में समर्थ है; परा प्रतिभा के संबन्ध में यह माना ही गया है कि यह जगत् को हर बार नूतन रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। कवि एवं महेश्वर, दोनों ही अपने-अपने संसार को अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार व्यक्त करते हैं। जहाँ आनन्दवर्धन कहते हैं : "यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते", वहीं शैव अद्वैतवादी क्षेमराज कहते हैं : "सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" अभिनवगुप्त पराप्रतिभा को परिभाषित करते हुए कहते हैं :

अनन्यापेक्षिता चास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः।
तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तमाम्।।

वस्तुतः साधक में इस प्रतिभा-शक्ति को स्फुरित करना ही **तन्त्रालोक** के विवेचनों का लक्ष्य है (ततः प्रतिभासंवित्त्यै शास्त्रमस्मत्कृतं त्विदम् – अभिनव)। अभिनव की प्रतिभाविषयक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा इसकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा पर आधारित है। अभिनव ने कवि-प्रतिभा को 'नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा' कहा है। जैसा **तन्त्रालोक** X. 143 की टीका में जयरथ कहते हैं, नवीन रचना की यह सामर्थ्य शक्ति के स्तर पर उदित होती है। रुय्यक के **अलंकारसर्वस्व** में 'भाविक' और 'सूक्ष्म' अलंकारों पर टिप्पणी करते हुए जयरथ कहते हैं कि ये अलंकार व्यंग्यव्यंजकभाव पर आधारित हैं और वे कवि की लेखनी से उस समय निःसृत होते हैं जब वह विद्येश्वर अर्थात् सद्विद्या की दशा में होता है। दूसरे, हम देख चुके हैं कि तत्त्वमीमांसीय प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्ति से उत्पन्न होती है। अभिनव भी एक कारिका में कवि के स्वातन्त्र्य की चर्चा करते हैं। ये दो बातें इतना स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि प्रतिभाविषयक अभिनव की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा उनकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा से कितना मेल खाती है।

अभिनव ने तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से प्रतिभा का एक स्थान पर जैसा विवेचन किया है उस प्रकार सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं किया। उन्होंने **ध्वन्यालोकलोचन** और **अभिनवभारती** में इसकी व्याख्या अनेक स्थलों पर की है। वे प्रतिभा पर भट्टतौत का भी उल्लेख करते हैं जो नाट्यशास्त्र में उनके गुरु रहे थे। इन सभी उक्तियों को एक साथ रखकर हम सौन्दर्यशात्रीय दृष्टिकोण से उनकी प्रतिभाविषयक धारणा को समझ सकते हैं। संक्षेप में यह इस प्रकार है[17]।

आनन्दवर्धन के अनुसार, प्रतिभा वह शक्ति है जो ध्वन्यर्थ से स्पन्दित काव्यकृति को उत्पन्न करती है। इस शक्ति से संपन्न होकर ही कवि महाकवि के रूप में जाना जाता है। प्रतिभा न केवल कवि के लिए काव्य-रचना हेतु आवश्यक है अपितु काव्य के व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए सहृदय में भी उसका होना उतना ही आवश्यक है। प्रतिभासंपन्न व्यक्ति ही व्यंग्यार्थ को समझ समता है। प्रतिभा मात्र अनुमान का नहीं अपितु प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। यह प्रमातृनिष्ठ अनुभव है। अपने निजत्व को विस्मृत करके और कवि द्वारा प्रस्तुत रचना में प्रविष्ट होकर ही इस अनुभव को पाया जा सकता है। इसकी उपलब्धि वस्तुनिष्ठ रूप में नहीं हो सकती। भट्टनायक का अनुसरण करते हुए अभिनव इस अनुभव की तुलना उस दूध से करते हैं जो बछड़े के स्नेह के कारण गाय के थनों से स्वतः प्रवाहित होता है। कवि-प्रतिभा वह प्रज्ञात्मक सामर्थ्य (बुद्धि) है जो निर्दोष, रमणीय एवं नवीन रसात्मक स्थितियों का निर्माण करती है और सहृदय उसका रस अपनी तर्क-शक्ति द्वारा नहीं अपितु नायक के साथ साधारणीभवन द्वारा उसमें डूबकर ही पा सकता है। इसलिए सहृदय को काव्य-रचना की शक्ति का अनुभव अनुमान द्वारा नहीं हो सकता। प्रस्तुत काव्य को अपने आप में अनुभव करके ही वह इसे समझ सकता है।

प्रतिभा काव्य-रचना की कारणभूत कवित्व-शक्ति है। यही वह कल्पनाशक्ति है जो नवीन सौन्दर्य-विन्यास का निर्माण करने में समर्थ है। यह रसास्वाद को उत्पन्न करने वाली नवीन रसात्मक रचनाओं को उत्पन्न करने की क्षमता है। यह अपने आपको असंख्य रूपों में प्रदर्शित करती है और पुराने विषयों के प्रस्तुतीकरण में भी व्यंग्यार्थों की विविधता को प्रकट करती है। यह पुराने विषयों में नवीन ध्वनियों का संचार करके उन्हें नवीनता प्रदान करती है, वैसे ही जैसे वसन्त में पुराने वृक्ष भी कमनीय पल्लव-समृद्धि के साथ नवीन आकर्षण प्राप्त कर लेते हैं।

इसी प्रसंग में प्रतिभा और उसकी व्यापार-विधि के विषय में भी अभिनव की धारणा पर थोड़ा विचार कर लेना उपयुक्त होगा। वे कहते हैं कि प्रतिभा नवीन निर्माणों के मानस दर्शन की बुद्धि की सामर्थ्य है (अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा)। रसावेश के प्रभाव में सौन्दर्य से परिपूर्ण काव्य की रचना में ऐसी दृष्टि की उपस्थिति का अनुभव किया जा सकता है (रसावेशवैवश्यसुन्दरकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्)। कविदृष्टि सामान्य प्रज्ञा की भाँति कदापि नहीं है। यह निरन्तर उपयुक्त वर्णनों के माध्यम से विभावादि को प्रस्तुत करने में तत्पर रहती है और सहृदय पाठक द्वारा आस्वाद्य स्थायीभाव को ध्वनित करने वाली वाक्य-रचना (संघटना) में पर्यवसित होती है। ऐसे पाठक के हृदय में यह दृष्टि एक सहसा उद्‌भास के रूप में स्फुरित

होती है (अनुमान मात्र का विषय नहीं रहती)। ऐसी सृजन-क्षमता के प्रसाद से ही कवि महाकवि की पदवी प्राप्त करता है।

प्रतिभा-व्यापार का आरंभ कवि-मन की रसपूर्ण अवस्था (रसावेश) से होता है और पाठक के हृदय को भी उसी प्रकार के रस से परिपूर्ण करने (रसास्वाद) में इसका पर्यवसान होता है। इस प्रकार, रस सौन्दर्यशास्त्र का सर्वप्रथम और प्रमुखतम सिद्धान्त है। कवि के छोर पर प्रतिभा कारक क्षमता के रूप में व्यापाररत है; पाठक के छोर पर इसका व्यापार भावक क्षमता के रूप में है। ये दोनों छोर मिलकर सजीव वर्णना के माध्यम से एक समग्र इकाई का निर्माण करते हैं जिसे काव्य कहते हैं।

हमने तत्त्वमीमांसा एवं सौन्दर्यशास्त्र के प्रसंग में प्रतिभा की अवधारणा पर कुछ विस्तार से चर्चा की है। किन्तु इसका अध्ययन यहीं समाप्त नहीं होता। अभिनव ने धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भ में भी इसका विवेचन किया है। उनका उल्लेख किये बिना हमारा प्रतिभाविषयक विवेचन अधूरा ही रहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिभा वह आध्यात्मिक शक्ति है जिससे संपन्न होकर व्यक्ति शिव अर्थात् सर्वोच्च प्रकाश में स्थित हो जाता है। प्रतिभा उसे इस योग्य बनाती है कि वह संपूर्ण विषयसमूह को शिव से अभिन्न रूप में देख सके। यह (आध्यात्मिक) प्रतिभा आरम्भ में मन्द हो सकती है। किन्तु गुरु के उपदेश और दीक्षा द्वारा तथा यज्ञ, जप और योग के अभ्यास द्वारा यह सुस्पष्ट हो जाती है। इनके कारण प्रतिभा वैसे ही प्रदीप्त हो उठती है जैसे फूँक मारने से अंगारों की राख हट जाती है और वे चमकने लगते हैं, या जैसे पानी और खाद द्वारा विकास पाकर बीज पूर्ण-विकसित वृक्ष बन जाता है[18]।

धार्मिक संदर्भ में प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्ति से अभिन्न है। क्रम संप्रदाय में पूजित बारह देवियों के रूप में और अन्य संप्रदायों में अलग-अलग उद्देश्यों की सिद्धि के लिए पूजित अन्य देवियों के रूप में यही अपने आपको व्यक्त करती है। ये धार्मिक अनुष्ठान प्रतिभा की सांसिद्धिक ज्ञान नामक अभिव्यक्ति को प्रकट करते हैं। यह ज्ञान मायीय मल को नष्ट करने वाला है।

प्रतिभा के विषय में भर्तृहरि ने भी **वाक्यपदीय** में कुछ कारिकाएँ लिखी हैं उनके अनुसार प्रतिभा अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग रूप धारण करती है। पशु-पक्षियों सहित समस्त प्राणियों में यह मूलप्रवृत्तिक व्यवहार (instinctive behaviour) का रूप लेती है। मानवीय धरातल पर यह वाक्यार्थ की सीधी उपलब्धि के रूप में प्रकट होती है। उच्चतर व्यक्तियों में यह अन्तरात्मा की आवाज़ भी बन जाती है। इन सभी मामलों में एक ही शक्ति जीवन के विकास की विभिन्न

अवस्थाओं में कार्यरत है और व्यक्ति को शक्ति के साक्षात्कार का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता देती है। मूल प्रवृत्ति की दशा से आध्यात्मिक अनुभव की शिव-दशा तक प्रतिभा मनुष्य को उच्च से उच्चतर धरातल तक उठने में सहायक होती है।

इस मार्ग में काव्य-प्रतिभा का एक विशिष्ट स्थान है। यह मनुष्य को उसी रस का आस्वाद कराती है जिसके लिए योगी कठोर तप करते हैं जबकि कवि एवं सहृदय को तपस्या का कष्ट सहे बिना ही यह आस्वाद प्राप्त हो जाता है। अभिनवगुप्त **लोचन** में इस बात को इन शब्दों मे रखते हैं :

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्यात् दुह्यते योगिभिर्हि यः।।

(भट्टनायक से उद्धृत)

मराठी संत कवि ज्ञानेश्वर भी यह विचार बड़े सुन्दर शब्दों में इस प्रकार रखते हैं :–

तैसा मनाचा मारु न करिताँ
आणि इन्द्रियाँ दुःख न देताँ।
येथ मोक्ष असे आयिता
श्रवणाचिमाजी।। **(ज्ञानेश्वरी,** 4.224)

[मन को मारे बिना, इन्द्रियों को दुःख दिये बिना यहाँ (काव्य में) आप श्रवण मात्र से मोक्ष का आनन्द सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।]

प्रतिभा व्यक्ति को वैयक्तिकता के धरातल से उठाकर सद्विद्या की दशा तक पहुँचा देती है। इस दशा में वह शक्तितत्त्व के रूप में जाना जाता है। यदि मनुष्य सद्विद्या (शक्ति) के धरातल से नीचे नहीं उतरता तो वह शिव ही हो जाता है। अभिनव के शब्दों में :

स एव प्रतिभायुक्तः शक्तितत्त्वं निगद्यते।
तत्पातावेशतो मुक्तः शिव एव भवार्णवात्।।

(त.आ., XIII. 118)

छः

परवर्ती रचनाकारों पर अभिनवगुप्त का प्रभाव

अभिनवगुप्त जैसे समर्थ आचार्य समकालीन समाज को प्रभावित करें और अपने परवर्तियों के लिए प्रेरणास्रोत हों, यह स्वाभाविक ही था। प्रथम अध्याय में हम देख चुके हैं कि अभिनव ने अपने तप और पांडित्य द्वारा अपने समय के विभिन्न शैव संप्रदायों के विद्वानों को इतना प्रभावित किया कि वे उन सभी के द्वारा अखिल शैव संप्रदायों के आचार्य के रूप में मान्य हुए। उनके शिष्यों और विद्यार्थियों ने दर्शन, तन्त्र एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में लेखन के लिए उनसे प्रेरणा ग्रहण की और उनके ग्रन्थों पर टीकाओं के माध्यम से और अपने मौलिक योगदानों के माध्यम से उनके विचारों को और स्पष्ट किया। उनके शिष्यों एवं परवर्तियों के प्रयासों की एक झलक प्राप्त करने के लिए हम इस अध्याय को दो भागों में बाँटते हैं :

(अ) दर्शन एवं तन्त्र में उनसे प्रभावित रचनाकार ;

(आ) संगीत एवं काव्यशास्त्र में उनसे प्रभावित रचनाकार ।

(अ)दर्शन एवं तन्त्र में अभिनवगुप्त से प्रभावित परवर्ती रचनाकार

(1) **क्षेमराज** : अभिनवगुप्त से प्रभावित ग्रन्थकारों में कालक्रम की दृष्टि से क्षेमराज सर्वप्रथम हैं। वे अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। मधुराज योगी द्वारा रचित ध्यानश्लोकों में उनका उल्लेख किया गया है जहाँ वे अन्य शिष्यों के साथ अभिनव के चरणों में बैठे हैं और उनके द्वारा बोले गए प्रत्येक शब्द को लिख रहे हैं। अभिनव ने भी उनका उल्लेख उन शिष्यों में किया है जिनके आग्रह पर वे **तन्त्रालोक** की रचना के लिए प्रेरित हुए। क्षेमराज संभवतः अभिनव के चचेरे भाई थे। डॉ. पांडेय का अनुमान है कि वे अभिनव के पितृव्य एवं उनके गुरुओं में से एक, वामनगुप्त, के पुत्र थे। क्षेमराज स्वयं को अभिनवगुप्त का 'पादपद्मोपजीविन्' कहते हैं जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे निरन्तर अभिनव की सेवा में रहे। अभिनव के शिष्य होने के कारण वे उनके कनिष्ठ समकालीन थे और इसलिए हम निर्विवाद रूप से उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी के पहले या दूसरे पाद में रख सकते हैं।

डॉ. पांडेय ने क्षेमराज द्वारा लिखित सोलह ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनमें **प्रत्यभिज्ञाहृदय** प्रत्यभिज्ञा दर्शन के श्रेष्ठतम और प्रामाणिक प्रकरण-ग्रन्थ के रूप

में आज भी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ सूत्र एवं उन पर स्वोपज्ञ वृत्ति से मिलकर बना है। **स्वच्छन्दोद्योत** एवं **नेत्रोद्योत** क्रमशः **स्वच्छन्दतन्त्र** एवं **नेत्रतन्त्र** पर उनकी टीकाएँ हैं। उनका एक और ग्रन्थ **स्पन्दनिर्णय** है जो सुप्रसिद्ध **स्पन्दकारिका** पर उनकी टीका है। क्षेमराज ने अभिनवगुप्त के **लोचन** पर **ध्वन्यालोकलोचनोद्योत** के नाम से एक टीका लिखी थी। किन्तु यह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इस प्रकार अपने गुरु अभिनवगुप्त की भाँति क्षेमराज ने भी तन्त्र, दर्शन एवं काव्यशास्त्र, इन तीनों धाराओं में लिखा है। उन्होंने स्तोत्रों की रचना भी की होगी क्योंकि वे 'यदुक्तं मयैव स्वस्तोत्रे' कहकर अपने एक स्तोत्र का संकेत करते हैं।

(2) **मधुराज योगी :** मधुराज अभिनवगुप्त के निष्ठावान् शिष्य थे। हम उनकी **गुरुनाथपरामर्श** और 'ध्यानश्लोकों' का उल्लेख कर चुके हैं जहाँ उनके व्यक्तिगत इतिहास के विषय में कुछ तथ्य मिलते हैं। वे बतलाते हैं कि सप्तर्षि संवत् 4167 में वे 80 वर्ष के थे। इसका अर्थ यह हुआ कि ईस्वी सन् 1014-15 (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** के पूर्ण होने के वर्ष) में मधुराज की आयु 28 वर्ष थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि वे अध्यात्मवादियों के उस विशाल सम्मेलन में उपस्थित थे जिसमें अभिनव को शैव संप्रदायों का आचार्य स्वीकार किया गया था। अपनी रचना **गुरुनाथपरामर्श** में मधुराज ने इस सम्मेलन का उल्लेख किया है। ध्यानश्लोकों में उन्होंने अभिनव का जो शब्द-चित्र खींचा है, वह उनके अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है। **स्वात्मपरामर्श** में उन्होंने शैव योगी हो जाने के बाद के अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों का ब्यौरा दिया है। मधुराज योगी उनका संन्यास का नाम था। इससे पूर्व उनका नाम भट्टकृष्ण था।

उन्होंने अभिनव की कृतियों पर अपनी किसी टीका का उल्लेख नहीं किया है किन्तु **स्वात्मपरामर्श** में वे अपने विषय में जो जानकारी देते हैं उससे इतना बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्होंने अभिनव के शिवाद्वैत दर्शन को भारत के अन्य भागों में मदुरै तक पहुँचाया था। इसीलिए हम देखते हैं कि एक दाक्षिणात्य महेश्वरानन्द उर्फ गोरक्ष ने बारहवीं शताब्दी में **महार्थमञ्जरी** की रचना की।

(3) **योगराज :** ये परम्परा के ज्ञान से संपन्न क्षेमराज के शिष्य थे। इन्होंने अभिनवगुप्त के **परमार्थसार** पर **विवृति** लिखी है। यह ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। **विवृति** की रचना उन्होंने तब की जब वे संसारत्यागी होकर कश्मीर की वितस्तापुरी में संन्यासी के रूप में रह रहे थे। यह टीका शुद्ध रूप से अद्वैतवादी दृष्टिकोण से लिखी गई थी।

(4) **सुभटदत्त :** वे अभिनवगुप्तकृत **तन्त्रालोक** के प्रथम ज्ञात टीकाकार थे। उनकी टीका **विवृति** अथवा **विवरण** के नाम से ज्ञात है किन्तु संप्रति अनुपलब्ध है। जयरथ बताते हैं कि सुभटदत्त ने ही शैव संप्रदाय में उन्हें दीक्षित किया था।

(5) **जयरथ** : वे तन्त्रालोक के सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। उनकी टीका का नाम **विवेक** है। जयरथ की **विवेक** टीका सहित **तन्त्रालोक** बारह खंडों में कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है*। वे 12वीं शताब्दी के अन्त में और 13वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। **विवेक** के अन्त में वे अपने विषय में कुछ जानकारी देते हैं। वे कश्मीरनरेश राजराज के कनिष्ठ समकालीन थे। राजराज और जयसिंह (1200 ई॰) संभवतः एक ही थे। उन्हीं के प्रोत्साहन से जयरथ ने **तन्त्रालोक** का अध्ययन किया। वे सुभटदत्त द्वारा शैव संप्रदाय में दीक्षित किये गए। शैव संप्रदाय में उनके गुरु कोई कल्याण थे। अन्य विद्याओं में उनके शिक्षक का नाम शंखधर था। उनके पिता शृंगाररथ राजराज के मन्त्री थे। जयरथ जीवन्मुक्त थे।

अभिनवगुप्त की भाँति जयरथ ने भी शैव दर्शन एवं काव्यशास्त्र, दोनों शाखाओं में लिखा। रुय्यक के **अलंकारसर्वस्व** पर **अलंकारविमर्शिनी** में वे भाविक एवं सूक्ष्म अलंकारों की व्याख्या प्रत्यभिज्ञा में प्रतिपादित 'विद्येश्वर' की शैव अवधारणा के आधार पर करते हैं। इसी प्रकार **तन्त्रालोक** पर अपनी **विवेक** टीका में भी वे काव्यशास्त्र की अनेक अवधारणाओं की चर्चा करते चलते हैं। उनकी ज्ञात रचनाएँ हैं : (क) **तन्त्रालोकविवेक** (ख) **अलंकारविमर्शिनी** और (ग) **अलंकारोद्धरण**।

(6) **भास्करकण्ठ** : वे **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** पर **भास्करी** नामक टीका के कर्ता हैं। भास्करकण्ठ का समय 15वीं शती ई. है। वे धौम्यायन गोत्र के थे। उनके पिता का नाम अवतारकंठ और पितामह का वैडूर्यकंठ था। उनके गुरु का नाम कौल नरोत्तम था। **भास्करी** के अतिरिक्त उन्होंने निम्नलिखित रचनाएँ कीं :

(1) 14वीं शताब्दी में एक स्त्री द्वारा प्राचीन कश्मीरी भाषा में लिखित **लल्लावाक** का संस्कृत में अनुवाद ;

(2) **योगवासिष्ठ** पर शैव मत की दृष्टि से एक टीका ;

(3) **हरेश्वरस्तव**, जो कश्मीर के हरेश्वर मंदिर में जाने पर लिखा।

डॉ. पांडेय ने **प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** को **भास्करी** सहित तीन खंडों में अंग्रेज़ी अनुवाद और प्रस्तावना में शैव दर्शन के इतिहास के साथ प्रकाशित किया है। वे **भास्करी** के महत्त्व का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं :

"यह अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण टीका है और अभिनव के ग्रन्थ का परम्परागत व्याख्यान प्रस्तुत करती है। यद्यपि इसे समझने के लिए पाठक को पहले कश्मीर के शैव वाङ्मय का पर्याप्त अध्ययन पूर्वापेक्षित है और विस्तृत प्रतिपादन भी आवश्यक है तथापि इसकी सहायता के बिना अभिनव की **विमर्शिनी** को ठीक-ठीक समझना

---

*इसका पुनर्मुद्रण अंग्रेज़ी प्रस्तावना सहित आठ खंडों में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से हो चुका है। – **अनु॰**

नितान्त दुष्कर है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा वाङ्मय से संबन्धित परम्परा लुप्तप्राय है।" (**Abhi.**, पृ॰ 264)

(7) **महेश्वरानन्द** (अपर नाम गोरक्ष) : चोल देश में माधव के पुत्र गोरक्ष नाम के एक व्यक्ति थे। वे अभिनव के कट्टर अनुयायी थे। उन्होंने **महार्थमञ्जरी** नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें वे अभिनव को प्रायशः उद्धृत करते हैं। उनकी रुचि काव्यशास्त्र में भी थी और उन्होंने **ध्वन्यालोक** एवं **लोचन** का गहराई से अध्ययन किया था। अपने आत्मिक ज्ञान को वे प्रत्यभिज्ञा के अध्ययन का फल बतलाते हैं। उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण उनके गुरु ने उन्हें महेश्वरानन्द नाम दिया था। **महार्थमंजरी** में मूल कारिकाएँ महाराष्ट्री बोली में है और उन पर स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। अभिनव के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में क्षेमराज के **प्रत्यभिज्ञाहृदय** को भी उद्धृत किया गया है। डॉ. पांडेय उन्हें 12वीं शताब्दी ई. में रखते हैं। **महार्थमंजरी** में वे क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञा इन तीनों संप्रदायों को समन्वित करने का प्रयास करते हैं। क्षेमराजकृत **प्रत्यभिज्ञाहृदय** की भाँति इस ग्रन्थ ने भी शैव दर्शन के अध्येताओं में पर्याप्त प्रचार-प्रसार प्राप्त किया।

इस प्रकार यह पता चलता है कि शैव दर्शन पर लिखने वाले केवल प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्तिभूमि कश्मीर में ही नहीं, अपितु दक्षिण में चोल जैसे सुदूर प्रदेश में भी थे। महेश्वरानन्द ने स्पष्ट कहा है कि यह परम्परा उन्हें उत्तर से प्राप्त हुई थी। वे इसे 'औत्तराम्नाय' कहते हैं।

(8) **माधवाचार्य** : **सर्वदर्शनसंग्रह** के लेखक माधवाचार्य बतलाते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्यभिज्ञादर्शन का सार शैव आचार्य अभिनवगुप्त की कृतियों पर आधारित है। माधवाचार्य विजयनगर के शासकों के समकालीन थे। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि 16वीं शती के मध्य तक अभिनवगुप्त का प्रभाव न केवल कश्मीर में, अपितु भारत के अन्य भागों में भी दक्षिण के चोल प्रदेश तक फैला हुआ था।

आज, किन्तु, स्थिति बहुत भिन्न है। जहाँ तक अभिनव की कृतियों के आनुष्ठानिक अंश का प्रश्न है, आज भी उनका **तन्त्रालोक** प्रमाण-ग्रन्थ माना जाता है और ब्राह्मण परिवारों में सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठानों के विषय में उसका उल्लेख किया जाता है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अध्ययन, जैसा डॉ. पांडेय कहते हैं, समर्थ व्याख्याताओं के अभाव में अपनी उद्‌गमभूमि में ही प्रायः लुप्त हो चुका है।

(आ) संगीत एवं काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त से प्रभावित रचनाकार

शार्ङ्गदेव के **संगीतरत्नाकर** में अभिनवगुप्त की गणना संगीतशास्त्र के श्रेष्ठ

आचार्यों में की गई है[1]। काव्यशास्त्र में, आज भी ध्वनि एवं रस के संबन्ध में अभिनव का उल्लेख अन्तिम प्रमाण के रूप में किया जाता है। महिमभट्ट, जो ध्वनि को न मानकर अनुमान में इसका अन्तर्भाव मानते थे, और नाट्यदर्पणकार रामचंद्र और गुणचन्द्र, जो रस को सुखदुःखात्मक मानते थे, को छोड़कर सभी आलंकारिकों ने अभिनव की ध्वनि एवं रसविषयक अवधारणा को अन्तिम शब्द के रूप में स्वीकार किया है। यदि उनका अभिनव से मतभेद भी है तो वह केवल जहाँ-तहाँ प्रतिपादनविषयक ब्यौरों में है। यहाँ अभिनव के परवर्ती सभी आलंकारिकों के नाम कालक्रमानुसार देना आवश्यक नहीं। हम उनमें से केवल कुछ का उल्लेख करेंगे जिन्होंने अभिनव के रस एवं ध्वनिविषयक सिद्धान्तों को एक क्रमबद्ध आकार देने का प्रयास किया है।

1. **क्षेमराज** : हम **ध्वन्यालोक** एवं **लोचन** पर उनके **उद्योत** का उल्लेख पहले कर चुके हैं। दुर्भाग्य से यह कृति अनुपलब्ध है।

2. **क्षेमेन्द्र** (11वीं शती) : उन्होंने अभिनव से काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था[2] और वे क्षेमराज के कनिष्ठ समकालीन थे। वे अपनी **समयमातृका** का समय 1050 ई. और **दशावतारचरित** का 1060 ई. बतलाते हैं। इस प्रकार वे 11वीं शती में हुए। उन्होंने अनेक कृतियों की रचना की है।

औचित्यविचारचर्चा और **कविकण्ठाभरणम्** काव्यशास्त्र पर उनके दो ग्रन्थ हैं। **औचित्यविचारचर्चा** में काव्यशास्त्र में औचित्य के सिद्धान्त का विवेचन है। काव्य में गुण-दोष की अवधारणा औचित्य की अवधारणा पर आधारित है। औचित्य का स्थान पहले ही आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित कारिका में बतलाया है :

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्यैकनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

(अनौचित्य के अलावा रसभंग का कोई अन्य कारण नहीं है। काव्य में औचित्य बनाए रखने में ही रस का परम रहस्य है)।

क्षेमेन्द्र औचित्य के महत्त्व का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं :

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता-
मौचित्येन विना रतिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।।

(मेखला को कंठ में और सुन्दर हार को कटि में अथवा नूपुर को हाथ में और कंगन को चरण में धारण करने पर कौन उपहास का पात्र नहीं बनेगा ?

शरणागत पर शौर्य और आक्रान्ता पर करुणा करने से कौन हास्यास्पद न होगा ? सच तो यह है कि औचित्य के अभाव में न तो गुणों का और न ही अलंकारों का आनन्द लिया जा सकता है।)

दूसरा ग्रन्थ **कविकण्ठाभरणम्** उदीयमान कवियों को शिक्षा देने के लिए रचा गया था। यह कविकर्म के इच्छुक व्यक्तियों को अपनी काव्य-प्रतिभा को निखारने और सँवारने के लिए कुछ विधियों के पालन की सलाह देता है। यह वाग्देवी को प्रसन्न करने हेतु एक मन्त्र की साधना के लिए भी कुछ विधियाँ बतलाता है। कवि की अभिव्यक्ति को चमत्कारपूर्ण एवं व्यंजनात्मक बनाने के लिए अध्ययन एवं अभ्यास की कुछ विधियों की चर्चा भी यहाँ की गई है।

3. **मम्मट** (सन् 1100 ई.) : मम्मटकृत **काव्यप्रकाश** संस्कृत काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए मानक ग्रन्थ है। रस एवं ध्वनि के संदर्भ में वे अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन के पक्के अनुयायी हैं। उन्होंने **अभिनवभारती** से अभिनव के शब्द लेते हुए रस-सिद्धान्त का सार बड़े शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। ध्वनि के प्रतिपादन में उन्होंने इसका समर्थन किया है और अभिनव के परवर्तियों, महिमभट्ट प्रभृति, की आलोचना का प्रत्युत्तर दिया है। उन्होंने **शब्दव्यापारविचार** के नाम से भी एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जहाँ वे व्यंजना को एक स्वतन्त्र व्यापार के रूप में स्थापित करते हैं। काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों को उन्होंने **काव्यप्रकाश** में व्यवस्थित क्रम में रखा है और उनके द्वारा निर्धारित व्यवस्था परवर्ती ग्रन्थकारों के लिए मानक हो गई। **काव्यप्रकाश** में आनन्दवर्धन और अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का परिचय इतनी पूर्णता के साथ दिया गया है कि इसके कर्ता मम्मट को परवर्ती आलंकारिकों ने 'वाग्देवतावतार' कहा है।

4. **शारदातनय** (सन् 1150 ई.) : इन्होंने नाट्यकला पर **भावप्रकाशन** की रचना की थी। ये रस के निरूपण में अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हैं और विविध प्रसंगों में उनकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं।

5. **रुय्यक** (सन् 1150 ई.) : रुय्यक ने **अलंकारसर्वस्व** और **व्यक्तिविवेकविचार** की रचना की है। इनमें दूसरी कृति महिमभट्ट के **व्यक्तिविवेक** पर टीका है जिसमें प्रसंगानुसार उन्होंने दिखलाया है कि कैसे महिमभट्ट की ध्वनिविषयक आलोचना अनुचित है। उन्होंने ध्वनि-विषयक अवधारणाओं के प्रसंग में आनन्दवर्धन और अभिनव का समर्थन किया है।

6. **हेमचन्द्र** (सन् 1170 ई.) : उन्होंने काव्यशास्त्र पर **काव्यानुशासन** नामक ग्रन्थ और उस पर **विवेक** नामक टीका की रचना की। टीका में वे **अभिनवभारती** को व्यापक रूप से उद्धृत करते हैं और रस के निरूपण में वे वस्तुतः अभिनव के ही रस-निरूपण को **अभिनवभारती** से दुहराते हैं।

7. **विश्वनाथ** (सन् 1300-1350 ई.) : उनका **साहित्यदर्पण** काव्यशास्त्र की शिक्षा के लिए एक और मानक ग्रन्थ है। वे स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं कि 'चित्रकाव्य' कोई काव्यभेद नहीं है। काव्य दो ही प्रकार का है : ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य। वे सब प्रकार से अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हैं।

8. **प्रभाकर** (16वीं शताब्दी) : उनके लघुग्रन्थ **रसप्रदीप** में काव्य के सारभूत तत्त्व के रूप में 'चमत्कार' की अवधारणा पर बल दिया गया है।

9. **मधुसूदन सरस्वती** (16वीं शताब्दी) : मधुसूदन ने अपने **भक्तिरसायन** में भक्तिरस के निरूपण के लिए ध्वनि और रस के अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उपयोग किया है और वे ध्वनिवादियों की शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं।

10. **पंडितराज जगन्नाथ** (1620-1650 ई.) : वे शाहजहाँ के दरबार में पंडित थे। उन्होंने काव्यशास्त्र पर **रसगंगाधर** नामक ग्रन्थ की रचना की जो संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में संभवतः अन्तिम मानक ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन और अभिनव के पक्के अनुयायी थे। उन्होंने आनन्दवर्धन का स्मरण अत्यन्त सम्मानपूर्वक किया है और उन्हें अनुसरण के योग्य प्रथम आलंकारिक कहा है और अभिनवगुप्त का उल्लेख रस के प्रतिपादक महान् आचार्य के रूप में किया है। **रसगंगाधर** में वे यथासमय अपनी मौलिकता भी व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, आनन्दवर्धन ने रसध्वनि और भावध्वनि को असंलक्ष्यक्रमध्वनि के अन्तर्गत रखा था। जगन्नाथ दिखलाते हैं कि रस और भाव संलक्ष्यक्रम भी हो सकते हैं। रसविषयक दृष्टिकोण में वे अभिनव और मम्मट से सामान्यतः सहमत हैं। किन्तु वे इसे वेदान्त की शब्दावली में अभिव्यक्त करते हैं।

यदि हम रस-सिद्धान्त के संदर्भ में अभिनवगुप्त से प्रभावित रचनाकारों की कृतियों को सूक्ष्मता से देखें तो उनमें दो प्रकार के रचनाकार होंगे : (1) वे जो कश्मीर में हुए और जिन्हें शैव दर्शन एवं उसकी शास्त्रीय शब्दावली का ज्ञान और प्रशिक्षण प्राप्त था; और (2) वे जो कश्मीर से बाहर के थे और शैव दर्शन की शास्त्रीय शब्दावली से परिचित नहीं थे। इन दूसरे प्रकार के रचनाकारों ने अभिनवगुप्त और मम्मट द्वारा प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या प्रायः वेदान्त और सांख्य की अवधारणाओं के प्रकाश में की। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वेदान्त और शैवाद्वैत, दोनों ही अद्वैतवादी दर्शन थे। अधिकांश बिन्दुओं पर उनमें सहमति थी। फिर भी उनके ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के तात्पर्य में अन्तर था। इसलिए परवर्ती काल के ये रचनाकार शैव दर्शन के अनेक पारिभाषिक शब्दों को वेदान्ती अर्थ में लेते रहे। इसीलिए उनके लेखन में अभिनवगुप्त से सामान्य मतभेद मिलते हैं। उदाहरण के लिए, हम संपूर्ण भारत में काव्यशास्त्र की शिक्षा के मानक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत रचना अर्थात् **काव्यप्रकाश** की पहली ही पंक्ति को लेते हैं।

यह पंक्ति इस प्रकार है :

'नियतिकृतनियमरहिताम्'

इस पंक्ति में 'नियति' शब्द की व्याख्या करते हुए अपनी वृत्ति में मम्मट स्वयं कहते हैं : "नियतिशक्त्या नियतरूपाम्।" मम्मट के कथन का तात्पर्य है कि कवि की सृष्टि नियति के नियमों से मुक्त है जबकि ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों से संचालित होती है। कश्मीर शैवदर्शन में नियति 'शक्ति' का एक रूप है जो मायीय जगत् में कार्यरत है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है : 'नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।' इसे हम कार्य-कारण-संबन्ध की एक शृंखला अथवा व्यावहारिक जगत् का एक प्रकार का यान्त्रिक कारणता-नियम कह सकते हैं। कवि ऐसे किसी यान्त्रिक कारणता-नियम से नहीं बँधता। मम्मट कश्मीर के निवासी थे और शैव दर्शन से परिचित थे। उनके लेखन में शैव दर्शन की शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक है और इसे **काव्यप्रकाश** में अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। किन्तु इस शब्दावली से अपरिचित परवर्ती ग्रन्थकारों ने नियति का अर्थ 'अदृष्ट' या 'असाधारण धर्म' किया। इससे स्वभावतः ही लेखक का अभिप्रेत अर्थ परिवर्तित हो गया। वैसे ध्वनि के संदर्भ में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि ध्वनि-विषयक अवधारणाएँ स्फोटवाद पर आधारित थीं और उनकी अधिकांश शब्दावली भर्तृहरिकृत **वाक्यपदीय** से ली गई थी जो व्याकरण-दर्शन की वाच्य-वाचक भाव की अवधारणा का आधार-ग्रन्थ था। भर्तृहरिकृत **वाक्यपदीय** और पतञ्जलिकृत **महाभाष्य** का अध्ययन कश्मीर सहित पूरे भारत में प्रचलित था और इसलिए कश्मीर से बाहर रहने वाले वे लोग भी, जो शैव दर्शन की शास्त्रीय शब्दावली से परिचित नहीं भी थे, आनन्दवर्धन के **ध्वन्यालोक** और अभिनवगुप्त के **लोचन** में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ भली-भाँति समझ पाए। काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के पश्चाद्वर्ती अनुगामियों की कृतियों में रस-सिद्धान्त-विषयक छोटे-मोटे इन विवरणगत मतभेदों के पीछे यही कारण है।

इसलिए हम निर्णायक स्वर में कह सकते हैं कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि के विषय में जो लिखा वह अन्तिम था और आज भी अन्तिम है। **काव्यप्रकाश** के एक प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यंचन्द्र अभिनवगुप्त के लिए लिखते हैं :

न यस्य वेत्ति गाम्भीर्यं गिरितुङ्गोऽपि लोल्लटः।
तत्तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शङ्कुकः।।

भोगे रत्यादिभावानां भोगं स्वस्योचितं ब्रुवन्।
सर्वथा रससर्वस्वमभाङ्क्षीत् भट्टनायकः।।

स्वादयन्तु रसं सर्वे यथाकामं कथञ्चन।
सर्वस्वं तु रसस्यात्र गुप्तपादा हि जानते।।

जिस रस-सागर की गहराई को पर्वत की ऊँचाई वाले लोल्लट भी नहीं माप सके उसका परिमाप शंकुक (श्रीशंकुक आचार्य और, श्लेष से, नुकीली कील या खूँटी) को कैसे हो सकता है।

भट्टनायक ने तो रस को रति इत्यादि भावों का भोग बतलाकर इसके सर्वस्व को ही नष्ट कर दिया।

सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार रस का आस्वाद प्राप्त करें, किन्तु इसके वास्तविक सार-तत्त्व को तो अभिनवगुप्तपाद ने ही ग्रहण किया है।

सात

भारतीय चिन्तन को अभिनवगुप्त की देन

अभिनवगुप्त ने बहुत लिखा है और टीकाओं तक में वे अनेक विषयों का विवेचन करते हुए कुछ न कुछ मौलिक योगदान करते हैं। वे एक महान् योगी थे और क्रम एवं कुल संप्रदाय के तान्त्रिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान कर चुके थे। उन्होंने जो भी लिखा उसके पीछे शास्त्रबल के अलावा उनका अपना अनुभव भी था। अभिनव का समग्र चित्र प्राप्त करने के लिए उनका अध्ययन इन सभी दृष्टियों से करना होगा। किन्तु यह कार्य केवल विशेषज्ञ के लिए ही संभव है।

अब, जबकि हम अभिनवगुप्त के अध्ययन के समापन की ओर बढ़ रहे हैं तो पिछले अध्याय में विवेचित मुद्दों को एक बार सार-रूप में रख देना उपयुक्त होगा। हम कह चुके हैं कि अभिनवगुप्त में प्रबल ज्ञान-पिपासा थी और, कि ज्ञान की इस तलाश में कश्मीर में और कश्मीर से बाहर भी गुरुओं को खोजते हुए उन्होंने एक से दूसरे स्थान का भ्रमण किया। विभिन्न विषयों में हम उनके गुरुओं की चर्चा पहले कर चुके हैं। और स्वभावतः ही हम यह जानने के लिए उत्सुक हो उठते हैं कि उनका ज्ञान कितनी व्यापकता लिये हुए था। उनके द्वारा अपनी कृतियों में उद्धृत या उल्लिखित रचनाओं और रचनाकारों का नामोल्लेख ही उनके अध्ययन की व्यापकता बतलाने के लिए पर्याप्त है। अपनी मुख्य टीकाओं में से प्रत्येक में विविध विषयों पर चर्चा करते हुए उन्होंने अनेक आचार्यों को उद्धृत किया है। डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय ने अभिनवगुप्त की निम्नलिखित कृतियों में प्राप्त उल्लेखों की सूची दी है :

(अ) उनके तान्त्रिक ग्रन्थ

1.	मालिनीविजयवार्तिक	43
2.	परात्रिंशिकाविवरण	79
3.	तन्त्रालोक	245
4.	तन्त्रसार	29

(आ) काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

1.	ध्वन्यालोकलोचन	82
2.	अभिनवभारती	159
		241

(इ) दर्शनशास्त्र-विषयक ग्रन्थ

1.	भगवद्गीतार्थसंग्रह	19
2.	प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी	234
3.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	47
		300

आचार्यों की यह संख्या 900 से ऊपर बैठती है। इस गणना में कुछ नामों की पुनरावृत्ति भी रही होगी। फिर भी यह संख्या 600 से नीचे नहीं हो सकती। उनका अध्ययन इतना व्यापक रहा है। **लोचन** और **अभिनवभारती** में उनके द्वारा उद्धृत रचनाकार संस्कृत साहित्य और साहित्यिक इतिहास के अध्येता के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। अनेक अवसरों पर ये उद्धरण समीक्षात्मक पक्षों पर नया प्रकाश डालते हैं और शास्त्रीय शब्दों को स्पष्ट करते हैं। साहित्येतिहास के अध्येता को कई बार ये उद्धरण साहित्येतिहास के लेखकों द्वारा बतलाए गए विभिन्न रचनाकारों के कालानुक्रम पर पुनर्विचार के लिए विवश कर देते हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भरत के एक टीकाकार कीर्तिधर हुए हैं। इतिहासज्ञों ने उन्हें अभिनवगुप्त का परवर्ती माना है। किन्तु हम देखते हैं कि **अभिनवभारती** में कुछ बिन्दुओं पर अभिनव ने कीर्तिधर के मत को उद्धृत किया है[1]। ऐसी स्थिति में हमें पुराने मत में संशोधन करना पड़ता है। नाट्यकला के विषय में भी **अभिनवभारती** में बहुत सी नई बातें मिलती हैं। उदाहरणार्थ, कालिदास और उनके बाद के नाटकों में हम पाते हैं कि नाटक का आरम्भ नान्दी से होता है और फिर सूत्रधार के प्रवेश का निर्देश मिलता है। आश्चर्य की बात है कि भास के नाटकों का आरम्भ ही इस निर्देश से होता है : 'नान्द्यन्ते प्रविशति सूत्रधारः' और फिर सूत्रधार द्वारा एक पद्य का पाठ किया जाता है। हम सोचते रह जाते हैं कि भास के नाटकों के आरम्भ में नान्दी श्लोक क्यों नहीं मिलता। भास के नाटकों के संपादकों ने सूत्रधार के प्रवेश से पूर्व नान्दीश्लोक के अभाव को लेकर बहुत सी कल्पनाएँ की हैं। अभिनवगुप्त इस संदर्भ में एक परंपरा का उल्लेख करते हुए कहते हैं : एतदुपजीवनेन चिरन्तनाः कवयो नान्द्यन्ते सूत्रधार इति पुस्तके लिखन्ति स्म (**अ.भा.**, खंड I. 26)। इसलिए मात्र कल्पनाओं का अवलंबन करना अनावश्यक है।

(क) काव्यालोचन और अन्य शास्त्रों को उनका अवदान

कवि-स्वातन्त्र्य की अवधारणा

संस्कृत साहित्य के कुछ आधुनिक अध्येता यह समझते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र कला के सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करता है। किन्तु साहित्य-समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियों के आलोक में वे यह अनुभव करते हैं कि यहाँ अनुप्रयुक्त समीक्षा का अभाव है अर्थात् किसी विशेष कलाकृति की साहित्यिक श्रेष्ठता के मूल्यांकन के लिए उस सिद्धान्त का उपयोग हमारे यहाँ नहीं किया जाता है। अभिनव अनुप्रयुक्त समीक्षा करने वाली दो रचनाएँ हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। पहली रचना का नाम है : **पुरूरवोविचारः**। अभिनव की दूसरी कृति **घटकर्परकुलकविवृति** में इसका उल्लेख मिलता है और उसी से हमें इसके विषय में जानकारी होती है। **पुरूरवोविचारः** तो हमें उपलब्ध नहीं, किन्तु **घटकर्परकुलक** पर अभिनवकृत **विवृति** में इससे उद्धृत एक अंश से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि आधुनिक अर्थ में हम जिसे अनुप्रयुक्त समीक्षा (applied criticism) कहते हैं, यह कृति उसी से संबद्ध है। **नाट्यशास्त्र** 7.1 पर **अभिनवभारती** से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि कालिदास ने **विक्रमोर्वशीयम्** नामक अपने प्रसिद्ध नाटक में पुरूरवा का जो चरित्रांकन किया है वह आलोचकों के आक्षेपों का पात्र बना होगा। अभिनव ने कालिदास के समर्थन में **पुरूरवोविचार** की रचना की। नाटक में पुरूरवा का चित्रण जिस रूप में हुआ है उसका रसात्मक औचित्य सिद्ध करने के लिए वे प्रतिभा-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त सामने रखते हैं जो उनके शब्दों में इस प्रकार है :

न वै दोषा दोषाः न च खलु गुणा एव च गुणाः,
निबद्धुः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान्विभजते।
इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवेः,
यदत्रोन्मादादप्यतिसुभगभावः परिणतः।।

दोष (शास्त्र में परिगणन मात्र से) दोष ही नहीं होते, न गुण गुण ही होते हैं; कवि का स्वातन्त्र्य ही काव्य में गुण-दोष का विभाजन करता है। वस्तुतः यह उस महाकवि (कालिदास) की बलात् आकर्षित करने वाली प्रतिभा ही है कि इस नाटक में (पुरूरवा के) उन्माद के माध्यम से एक सुन्दर स्थिति का सृजन हुआ है।

घटकर्परकुलकविवृति की भी यही स्थिति है। संस्कृत साहित्य के विद्वान् भली-भाँति जानते हैं कि **घटकर्परकाव्य** बीस पद्यों की एक छोटी-सी रचना है जिसमें वर्षा ऋतु में अपने प्रिय से बिछुड़ी हुई नायिका का विलाप है।

विप्रलम्भ शृंगार की रचना होते हुए भी इस काव्य में यमक नामक शब्दालंकार है। काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के हिसाब से यह दोष है। आनन्दवर्धन असंदिग्ध शब्दों में कहते हैं कि यमक और ऐसे अन्य अलंकार, जो कवि के लिए यत्नसाध्य हैं, शृंगार और विशेषकर विप्रलम्भ-शृंगार को ध्वनित करने वाले काव्य में प्रयुक्त नहीं किये जाने चाहिए[2]।

ऐसे दोषों से युक्त काव्य कालिदास की लेखनी से निःसृत नहीं हो सकता और इसलिए टीकाकार मानते हैं कि यह काव्य किसी अन्य कवि द्वारा लिखा गया। इस काव्य के अन्तिम पद्य (श्लोक सं. 21) में 'कर्पर' शब्द के प्रयोग के आधार पर वे कवि का नाम घटकर्पर बतलाते हैं। इसकी रचना करके कवि संभवतः कालिदास से स्पर्धा करने के लिए यह दिखलाना चाहता था कि यदि कालिदास का यक्ष मेघ के माध्यम से संदेश भेज सकता है तो इस रचना में उसकी पत्नी उसी संदेशवाहक के माध्यम से उसे उत्तर भी भेज सकती है। या संभव है कि वह कालिदास के मेघदूत के अनुकरण में एक काव्य रचना चाहता हो। इसलिए आधुनिक विद्वान् भी यही मानते हैं कि यह काव्य कालिदास की कृति नहीं है और घटकर्पर संभवतः किसी अज्ञात कवि का साहित्यिक उपनाम था।

एक कश्मीरी परम्परा इस काव्य को कालिदासकृत मानती थी। अभिनवगुप्त कहते हैं : हमने एक परम्परा में ऐसा सुना है कि महाकवि कालिदास इस काव्य के कर्ता हैं (किञ्चात्र कर्ता महाकविः कालिदास इत्यनुश्रुतमस्माभिः)। कालिदास जैसे अग्रगण्य कवि की रचना ऐसे दोषों से दूषित नहीं हो सकती जो उनकी प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाने वाले हों। इसलिए उस काव्य में कुछ निहित व्यंजनाएँ अवश्य होंगी जो आपाततः प्रतीत होने वाले इन दोषों को दूर कर सकें। मुख्य दोष यह है कि विप्रलम्भ शृंगार को ध्वनित करने वाले इस काव्य में कवि यमक अलंकार का प्रयोग करता है जबकि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में इसका निषेध किया गया है। यहाँ आनन्दवर्धन का कथन स्मरणीय है : रस की अभिव्यंजना करने वाले काव्य में जिस अलंकार के लिए पृथक् यत्न न करना पड़े वह अलंकार ध्वनिकाव्य का अङ्गीभूत माना जाता है[3]। अपनी टीका में अभिनव दिखलाते हैं कि किस प्रकार इस काव्य में यमक की रचना और विप्रलम्भ की व्यंजना कवि के एक ही प्रयत्न से हुई है और इस प्रकार यह इस काव्य में दोष नहीं है बल्कि इसके विपरीत इसने ऐसा शब्द-वैदग्ध्य प्रस्तुत किया है जिसे व्याख्या के द्वारा रस का परिपोषक बनाया जा सकता है। इसी संदर्भ में वे **पुरूरवोविचार** के पूर्वोदाहृत पद्य को अपनी विवृति में उद्धृत करते हैं।

अभिनव की टीका का नाम **घटकर्परकुलकविवृति** है। इससे यह संकेत मिलता है कि काव्य का शीर्षक, उनके अनुसार, **घटकर्परकुलक** था। अन्य टीकाकार इसे

घटकर्परकाव्य या मात्र **घटकर्पर** कहते हैं। अभिनव द्वारा स्वीकृत शीर्षक में प्राप्त 'कुलक' शब्द संभवतः टीकाकारों द्वारा इसलिए छोड़ दिया गया क्योंकि वे 'कुलक' शब्द को शास्त्रीय अर्थ में लेते थे। काव्यशास्त्र में 'कुलक' शब्द का प्रयोग पाँच या अधिक श्लोकों से निर्मित वाक्य के लिए होता है। यह कवि, अथवा काव्य के किसी एक पात्र द्वारा उक्त एक वाक्य जैसा होता है जिसमें एक ही विधेय अथवा क्रिया होती है। **घटकर्पर** काव्य में बीस पद्य हैं किन्तु ये सब मिलकर मात्र एक वाक्य नहीं बनते। प्रत्येक पद्य एक पृथक् वाक्य है। फिर, इसका वक्ता भी अकेला पात्र नहीं है। इसलिए कुलक की यह शास्त्रीय धारणा इस काव्य पर लागू नहीं होती। संभवतः इसी कारण अन्य टीकाकारों ने 'कुलक' शब्द को छोड़ दिया।

किन्तु डॉ. पांडेय बतलाते हैं कि कुलक गीतिकाव्य का एक प्रभेद है जिसकी रचना नृत्य एवं संगीत के लिए की जाती है। काव्य के शीर्षक में 'कुलक' शब्द को रखकर अभिनव यह सूचित करते हैं कि इस काव्य का प्रयोग रंगमंच पर नृत्य और संगीत में किया जाना था[4]। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने कालिदास की दो रचनाओं के विषय में आलोचकों के आक्षेपों का सशक्त प्रतिवाद किया है। अतः हम देखते हैं कि अभिनव की काव्यशास्त्रविषयक कृतियों से हमें काव्य के मूल्यांकन के विषय में नए विचार मिलते हैं जो कवि-प्रतिभा अथवा कवि-स्वातन्त्र्य की अवधारणा पर आधारित हैं।

षडङ्ग योग

अभिनव ने पतञ्जलि, क्रम संप्रदाय और कुल संप्रदाय द्वारा प्रदर्शित मार्गों के अनुसार योग का अभ्यास किया था। इसलिए उनमें अपने आचार्यों के और अपने अनुभव और शास्त्रप्रामाण्य के बल पर योग के विषय में कुछ मौलिक कहने की सामर्थ्य थी। क्रम संप्रदाय के अनुयायी के रूप में वे प्राण और मन को परस्पराश्रित मानते हैं। मन जहाँ भी जाता है, प्राण उसका अनुसरण करता है और इस प्रकार मन के पूर्ण नियन्त्रण द्वारा प्राण पर भी संपूर्ण प्रभुत्व पाया जा सकता है। योग का साधक यदि अपने मन को आत्मा में समाहित कर सके तो प्राण और अपान का व्यापार भी रुक जाता है, उदान स्वतः ही सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है और ऊपर उठ कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है। इस प्रकार सभी सीमाओं से मुक्त आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार अभिनव राजयोग के सभी आठ अंगों (यम, नियम आदि) को साक्षात्कार का प्रत्यक्ष साधन नहीं मानते। इन आठ में यम, नियम और आसन बाह्य साधन हैं जिनका संबन्ध शरीर से है और इसलिए वे मन को समाहित होने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देते हैं। अतः अभिनव का कहना है कि योग वस्तुतः अष्टांग नहीं, अपितु षडङ्ग है और ये छः अंग इस प्रकार हैं :

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।

(त०आ०, III. 101)

इस प्रकार योग के अंगों से यम, नियम और आसन को हटाकर और सत्तर्क को एक अंग के रूप में जोड़कर वे योग के छः अंगों के परिगणन में प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, सत्तर्क और समाधि को रखते हैं। वे कहते हैं कि सत्तर्क योग का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है (तर्को योगाङ्गमुत्तमम्) क्योंकि परमतत्त्व के साक्षात्कार का यही प्रत्यक्ष साधन है[5]।

सत्तर्क का सरोकार आत्मिक तत्त्व से है, लौकिक से नहीं। यह लौकिक स्तर से ऊपर उठ चुकी बुद्धि से उत्पन्न होता है और इसलिए प्रमाता और वस्तु के आभासमान भेद का उच्छेद करने में सक्षम है। सत्तर्क, अभिनव के अनुसार सद्विद्या ही है और सत्तर्क की सामर्थ्य परमेश्वर के प्रसाद से प्राप्त हो सकती है (सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः)। दीक्षा-पथ से गुज़रे बिना भी व्यक्ति इस सत्तर्क के माध्यम से विश्व के एकत्व का ज्ञान पा सकता है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन में स्पष्टतः प्रतिपादित है और इसीलिए इस दर्शन को नवीन पथ (मार्गो नवः) माना गया है।

व्याकरण और अन्य शास्त्र

अभिनव व्याकरण के श्रेष्ठ विद्वान् थे। उन्होंने पतञ्जलि के **महाभाष्य** का अध्ययन अपने पिता चुखुलक से किया था। वे भर्तृहरिकृत **वाक्यपदीय** के भी अधिकारी विद्वान् थे जो व्याकरण-दर्शन का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस प्रकार वे व्याकरण के प्रक्रिया-पक्ष और शब्दब्रह्म की दार्शनिक अवधारणा, दोनों से सुपरिचित थे। शब्दों के तात्पर्य को व्यक्त करने के लिए वे शब्द को उसके मूल में निहित धातु से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ, वे बतलाते हैं कि क्रमदर्शन में प्रयुक्त चक्र को 'चक्र' इसलिए कहते हैं क्योंकि –

(क) यह चमकता है (कसि विकासे);
(ख) यह आत्मिक तृप्ति देता है (चक तृप्तौ);
(ग) यह बंधन को काटता है (कृती छेदने);
(घ) इस में क्रिया-शक्ति है (डुकृञ् करणे)।

वे यह भी दिखलाते हैं कि कैसे ये सभी अर्थ-छटाएँ इस संप्रदाय में सुसंगत हैं और शरीर में विभिन्न चक्रों पर एकाग्रता के द्वारा इनका साक्षात्कार किया जा सकता है। वे 'कुल' शब्द के भी अनेक अर्थ देते हैं। वे इसे कुल धातु से व्युत्पन्न करते हुए (कुल स्त्याने बन्धुषु च) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं : कोलति इति

कुलम्, और दिखलाते हैं कि कैसे यह व्युत्पत्ति कुल संप्रदाय के विविध पक्षों पर लागू होती है। इसी प्रकार कुल संप्रदाय एवं प्रत्यभिज्ञा में प्रयुक्त 'महाभागा' के विविध अर्थों को स्पष्ट करने के लिए वे इसके चार अलग-अलग विग्रह देते हैं :

(क) महान् भागो यस्याः ;
(ख) महान् (शिवः) भागो यस्याः ;
(ग) महान् (बुद्ध्यादिः) भागो यस्याः ;
(घ) महस्य–सर्वतोऽखण्डितपरिपूर्णनिरर्गलनिरपेक्षस्वातन्त्र्यजगदानन्दमयस्य– आ– ईषत्– भागः – सुखलक्षणांशः यतः।

(प.त्रि.वि., 68-69)

इस प्रकार की विधियों से वे यह प्रदर्शित करते हैं कि कौलिकी शक्ति क्या है : (क) आध्यात्मिक दृष्टि से, वह जो सर्वशक्तिमत्ता प्रदान करती है; (ख) तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से, वह जो छत्तीस तत्त्वों का मूल है; (ग) ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वह जो बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है क्योंकि बुद्धि इसका एक पक्ष है; और (घ) मनस्तात्त्विक दृष्टि से यह सत्त्व का और, इसलिए, अवर्ण्य आनन्द का सारभूत है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त **लोचन** में 'ध्वनि' शब्द को पाँच पृथक्-पृथक् रीतियों से व्युत्पन्न करते हैं और यह भी प्रदर्शित करते हैं कि कैसे इन व्युत्पत्तियों में से प्रत्येक सुसंगत है क्योंकि ये व्युत्पत्तियाँ ध्वनि-सिद्धान्त के पाँच महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर संकेत करती हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि ध्वनि और व्यंजना की अवधारणा **वाक्यपदीय** में स्वीकृत स्फोट की अवधारणा पर आधारित है। वाक् की चार अवस्थाओं (1) परा, (2) पश्यन्ती, (3) मध्यमा, और (4) वैखरी का उल्लेख भी उसी अध्याय में किया गया है। यहाँ हमें केवल यह जोड़ना है कि भर्तृहरि केवल पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को स्वीकार करते थे। सोमानन्दनाथ ने **शिवदृष्टि** में सिद्ध किया कि पश्यन्ती चरम अवस्था नहीं है; उन्होंने 'परा' को वाक् की चरम अवस्था के रूप में जोड़ा। 'परा वाक्' की अवधारणा व्याकरण-दर्शन में शैवों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। शैवाद्वैत दर्शन, विशेषतः सोमानन्द, उत्पल और अभिनवगुप्त की कृतियों, का अध्ययन किये बिना हम व्याकरण-दर्शन को पूरी तरह नहीं समझ सकते। प्रत्यभिज्ञा एवं अभिनवकृत **लोचन** के अध्येता अभिनव के उस तार्किक कौशल से भली-भाँति परिचित हैं जो उन्होंने मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन से संबन्धित विषयों की चर्चा में प्रदर्शित किया है। शैव शास्त्रों के विभिन्न संप्रदायों में सभी से अभिनव सुपरिचित थे। पूर्वोल्लिखित सभी शास्त्रों में अभिनवगुप्त ने कुछ न कुछ नया जोड़ा है और इन शास्त्रों के चिन्तन एवं शिक्षण में अपना योगदान किया है।

(ख) उनका उदार दृष्टिकोण - 'शास्त्रसम्मेलनम्'

अभिनवभारती में भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक और भट्टनायक के रसविषयक मतों के प्रस्तुतीकरण के उपरान्त, रससूत्र पर अपनी व्याख्या देने से पूर्व अभिनव ने चार श्लोक लिखे हैं। हम यहाँ उनमें से दो श्लोक उद्धृत कर रहे हैं क्योंकि वे शास्त्रों के प्रति उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं :

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां
विवेकसोपानपरम्पराणाम्।।

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति।।

इनका अनुवाद हम नीचे दे रहे हैं* :

1. बौद्धिक जिज्ञासा यदि उच्च से उच्चतर स्तर पर अविश्रान्त भाव से आरोहण करती है और सत्य को स्पष्ट एवं स्पष्टतर रूप में देख पाती है तो इसका कारण पूर्व लेखकों द्वारा निर्मित चिन्तन की सोपान-परम्परा है।
2. इसलिए मैंने अन्य श्रेष्ठ विद्वानों के सिद्धान्त में दोष-दर्शन नहीं किया है। मैंने उनका परिष्कार मात्र किया है। विद्वानों का मानना है कि पूर्वप्रतिष्ठित मतों पर आधारित मतों को मूल बुनियाद पर प्रतिष्ठित मानना चाहिए।

उनका मानना है कि शास्त्र में प्रत्येक चिन्तक शास्त्रीय चिन्तन के परिष्कार की प्रक्रिया में अगली सीढ़ी है। उदाहरणार्थ वे **अभिनवभारती** में प्रदर्शित करते हैं कि श्रीशंकुक ने लोल्लट के विचारों को परिष्कृत किया और श्रीशंकुक के विचारों को भट्टतौत ने परिमार्जित किया। इनमें प्रत्येक ने शास्त्रीय चिन्तन को अगली सीढ़ी पर पहुँचाया। अभिनव ने स्वयं अपने वरिष्ठ समकालीन भट्टनायक के मत की आलोचना की और फिर भी उनके उन मतों को खुले मन से स्वीकार किया जो उन्हें स्वीकार्य प्रतीत हुए। जहाँ भी वे पूर्व आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हैं वहाँ उनके नाम का उल्लेख निःसंकोच करते हैं।

अभिनव का यह उदार दृष्टिकोण **अभिनवभारती** के अतिरिक्त उनकी दार्शनिक

*इन श्लोकों का अंग्रेज़ी रूपान्तर जे. एल. मेसन और एम. वी पटवर्धन की पुस्तक **एस्थेटिक रैप्चर** में दिया गया है।

रचनाओं में भी स्पष्ट है। पूर्वकालीन शास्त्रों में जो कुछ भी उन्हें स्वीकार्य लगा उसे उन्होंने खुले मन से स्वीकार किया और यदि किन्ही मुद्दों पर उन्होंने आलोचना की तो वह केवल परिष्कार के लिए थी। इस प्रकार उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त अपना मत स्थिर किया था। इस संदर्भ में हम **प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** से दो उदाहरण दे रहे हैं।

"पारमेश्वरेषु तावदागमेषु शैववैष्णवरहस्येषु वेदान्तेषु च स्पष्ट एवोक्तोऽयमस्मदुक्तोऽर्थः। तदनुसारेणैव सुगतेनोक्तं चित्तमात्रमिदं यदुत त्रैधातुकमिति। तदत्र विवरणकारैः दुरभिनिवेशवशेन प्रतारितो जनः। इदमेव तु तत्त्वमिति तात्पर्यम्।"

यहाँ अभिनव स्पष्ट कहते हैं कि शैव एवं वैष्णव आगम और वेदान्त, ये सब विश्व चैतन्य के विषय में सहमत हैं। और जब बुद्ध ने 'चित्तमात्रमिदं त्रैधातुकम्' कहा तो उनका भी यही मत था। किन्तु अपनी एकांगी प्रवृत्ति से अन्धे होकर उनके अनुयायियों ने अपव्याख्यान के माध्यम से लोगों को भ्रमित कर दिया।

दूसरा उदाहरण उनके निम्नलिखित कथन में है :

"आगमेषु द्वैतव्याख्यामपास्य, ब्रह्मवादे मायाशक्तीकृत्य विज्ञानद्वयमात्मेश्वराभिप्रायेण निरूप्य सिध्यत्येष जनः।"

यहाँ अभिनव बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि आगमिक अपनी द्वैतवादी व्याख्या को छोड़ दें, यदि वेदान्ती माया को ब्रह्म की शक्ति मान लें और यदि आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान को बौद्धों द्वारा आत्मा या महेश्वर अथवा विश्वचैतन्य की अभिव्यक्तियाँ मान लिया जाए तो एक ओर प्रत्यभिज्ञा, और दूसरी ओर आगमिक, वेदान्ती और बौद्धों का भेद लुप्त हो जाएगा। यह और ऐसे अन्य कथन अन्य दार्शनिक संप्रदायों के विषय में अभिनवगुप्त की उदार दृष्टि के ही परिचायक हैं।

विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के प्रति इस उदार दृष्टिकोण के कारण अभिनवगुप्त उन अवस्थाओं को सूचित कर पाते हैं जिन्हें चरम लक्ष्य के पथ पर जाने वाला साधक विभिन्न शास्त्रों के द्वारा प्राप्त करता है। परतत्त्व के साक्षात्कार की प्रक्रिया में अनेकों अवस्थाएँ निहित हैं जिन्हें प्राप्त करने में विभिन्न शास्त्र साधक के लिए सहायक होते हैं। इस संपूर्ण प्रक्रिया को अभिनव ने शास्त्रसम्मेलन का व्यापक नाम दिया है। उनके लिए चिन्तन का कोई भी अंश जीवन में निरर्थक नहीं है। ज्ञान की परम्परा में प्रत्येक विचार का अपना स्थान है। उदाहरण के लिए, परमतत्त्व की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के लिए न्याय का शायद विशेष उपयोग नहीं है। किन्तु मायीय जगत् में अर्थात् भौतिक जगत् में व्यक्ति के दैनिक जीवन

में निश्चय ही इसका स्थान है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : मायापदे नैयायिकमतस्यैवाधिकृतत्वम्।

पृथ्वी से लेकर ऊपर शिव तक जाने वाले जीवन-पथ पर अनुभव की आठ अवस्थाएँ हैं। ये अवस्थाएँ अनुभव के उस धरातल पर निर्भर हैं जिनसे प्रमाता गुज़रता है। इनके नाम हैं : सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश्वर, शक्तिज और शांभव। इन आठ अवस्थाओं में सकल और प्रलयाकल अशुद्ध सृष्टि (मायीय सृष्टि) की अवस्थाएँ हैं। विज्ञानाकल मायीय और शुद्ध विद्या के बीच में है (मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः)। शेष पाँच शुद्ध सृष्टि के क्षेत्र के अनुभव की अवस्थाएँ हैं। सकल और प्रलयाकल का अनुभव सामान्य व्यक्ति को क्रमशः जाग्रत् और सुषुप्ति (गहन निद्रा) की अवस्था में होता है। योग अथवा मोक्षमार्ग के साधकों को इन दो अवस्थाओं को पार करके विज्ञानाकल की अवस्था में प्रविष्ट होना पड़ता है। विज्ञानाकल माया एवं सद्विद्या के बीच की अवस्था है। जो अनुभव बौद्ध, सांख्य एवं योग दर्शन का लक्ष्य है वह विज्ञानाकल के क्षेत्र में आता है।

अभिनव कहते हैं कि सभी शास्त्रों का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। किन्तु प्रत्येक दर्शन में मोक्ष की अवधारणा भिन्न है। इसलिए प्रत्येक दर्शन को उसकी मोक्षविषयक. अवधारणा के अनुसार इस प्रकार व्यवस्थित करना होगा कि आरोहण के लिए एक सोपान की रचना हो सके। बौद्ध बुद्धि के यथार्थ स्वरूप को समझ सके हैं। चित्त का स्वरूप, विज्ञानवादियों के अनुसार, अत्यन्त शुद्ध है। किन्तु अनादि अज्ञान के कारण वह मलों से ढँका हुआ है। इसलिए दृश्य प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। इन मलों की निवृत्ति के साथ ही दृश्य प्रपञ्च की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार बौद्धों के मत में, मलों से मुक्ति ही निर्वाण है। इसे निरन्तर समाधि और बौद्ध संप्रदाय द्वारा विहित अन्य अभ्यासों से प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार वे जिसे मोक्ष कहते हैं वह प्रत्यभिज्ञा के छत्तीस तत्त्वों में बुद्धितत्त्व तक उत्थान की अवस्था है। सांख्य मत में मोक्ष वह अवस्था है जहाँ पुरुष प्रकृति के सभी विकारों से मुक्त रूप में पहचाना जाता है। एक बार यह स्थिति प्राप्त हो जाने पर प्रकृति पुरुष की दृष्टि से तिरोहित हो जाती है और मात्र पुरुष ही ज्ञान में 'केवल पुरुष' के रूप में प्रकाशित होता है। यह अवस्था प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पुरुष-तत्त्व से परे की अवस्था है। इसी प्रकार योग के अनुसार नियति-तत्त्व को पार करने की अवस्था का नाम मोक्ष है। यह सांख्य से एक सीढ़ी ऊपर है क्योंकि योग ईश्वरप्रणिधान का आश्रय लेता है[6]।

ये तीनों संप्रदाय, बौद्ध सांख्य एवं योग, साधक को पाँच कंचुकों को समझने और उन्हें पार करने तक की अवस्था में पहुँचाने में सहायक होते हैं। किन्तु प्रत्यभिज्ञा

के अनुसार मोक्ष की वास्तविक अवस्था यह नहीं है। प्रत्यभिज्ञा का कहना है कि चैतन्य की पूर्ण निर्मलता, आत्म-साक्षात्कार, शुद्ध संविद् अथवा परम चैतन्य की अवस्था ही मोक्ष है।

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्।
स्वरूपं चात्मनः संवित् नान्यत् ....।।

(त.आ., I. 192)

वैसे ये तीनों दर्शन साधकों को व्यक्ति के स्तर से ऊपर उठा सकते हैं। वे मायीय मल से मुक्ति प्राप्त करते हैं किन्तु उन्हें पूर्णतया मुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि कार्म मल और आणव मल नामक दो अन्य मल अभी भी अवशिष्ट हैं।

इसलिए विज्ञानाकल अवस्था माया और सद्विद्या की मध्यवर्ती अवस्था है। हो सकता है कि ऐसे योगी अनुभव के उच्चतर धरातल तक पहुँच जाएँ जिसे मन्त्र कहते हैं। किन्तु यह भी संभव है कि वे पुनः मायीय जगत् की जकड़ में आ जाएँ। 'कार्म' और 'आणव' नामक दोनों अवशिष्ट मलों के कारण वे फिर से व्यावहारिक जगत् में खींचे जा सकते हैं।

मायीय जगत् को पार कर लेने वाले साधक सद्विद्या के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में चैतन्य वैयक्तिकता के सभी संस्पर्शों से मुक्त हो जाता है। इसमें प्रविष्ट होना निर्मलता के जगत् में प्रविष्ट होना है। यहाँ साधक सर्वशक्तिमान् की सृष्टि– विश्व –के सौन्दर्य का मूल्यांकन आरम्भ करता है और अनुभव करता है कि बहुत्वमय जगत् वस्तुतः एक है और विश्वात्मा में अवस्थित है और इसके सभी विविध रूप उसके आनन्द अथवा विमर्श-शक्ति के विविध पक्षों की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। आगमों एवं पुराणों में वर्णित विभिन्न देव-देवियाँ इस विमर्श-शक्ति के विविध प्रकार हैं। साधक के मन में जैसे ही मन्त्र का उदय होता है वह विश्वात्मा के साथ इन सभी के तादात्म्य का अनुभव करता है। मन्त्र एक धार्मिक सूत्र है जो एक सविकल्प प्रत्यय को प्रस्तुत करता है, किन्तु शक्ति का नाम और रूप ही जिसका स्वरूप है ऐसा वह सविकल्प प्रत्यय विमर्श के साथ एकाकार रूप में भासित होता है और स्वतः ही शारीरिक चेष्टाओं (मुद्रा) के माध्यम से द्योतित होता है। साधक इसे विमर्श-शक्ति से अभिन्न रूप में अनुभव करता है। इसलिए मन्त्रदशा वह अनुभव-दशा है जो वस्तुनिष्ठ संसर्गों से सर्वथा मुक्त है। यह वस्तुतः प्रमातृनिष्ठ अनुभव है किन्तु साधक को यह वस्तुनिष्ठ प्रतीत होता है। महेश्वरानन्द कहते हैं कि अभिनव ने अपनी कृति क्रमकेलि में इस (मन्त्रदशा) का वर्णन किया है[7]।

अभिनव के अनुसार आत्म-साक्षात्कार की अवस्था तक पहुँचने की प्रक्रिया अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के ठीक उलट है। इसलिए मन्त्रेश, मन्त्रमहेश आदि अनुभव

की परवर्ती अवस्थाएँ आनन्दावस्था में अधिक से अधिकतर लीन होते जाने की सीढ़ियाँ हैं और इनमें अन्तिम अवस्था, जो वेदान्त और प्रत्यभिज्ञा दोनों में समान है, वह अवस्था है जिसका उल्लेख 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्', इस वाक्य में है।

अनुभव की इन अवस्थाओं और विभिन्न दर्शनों द्वारा परिकल्पित मोक्षमार्ग की अवस्थाओं का संपूर्ण वर्णन **तन्त्रालोक** में 'शास्त्रसम्मेलनम्' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। हम कह चुके हैं कि 'सकल' और 'प्रलयाकल' मायीय जगत् में पूर्णतया मग्न हैं। मायीय जगत् के पार जाने, सद्विद्या के क्षेत्र में प्रवेश करने और आगे बढ़ने की सामर्थ्य तो विज्ञानाकल में है। वह या तो गुरु से प्राप्त दीक्षा के माध्यम से ऐसा कर सकता है अथवा सत्-तर्क के माध्यम से कर सकता है जो भावना की प्राप्ति कराने वाला है।

भावना एक मानसिक क्रिया है जिसमें योगी जिस प्रत्यय का बोध प्राप्त करना चाहता है, वह सतत प्रयास के द्वारा उसे क्रमशः स्पष्ट होता जाता है। यह भावना आरम्भ में धुँधली होती है और क्रमशः स्पष्ट हो जाती है। इसलिए, भावना की क्रिया उस प्रत्यय की स्पष्टता को अनुभव करने का प्रयत्न है जो आरम्भिक अवस्था में स्पष्ट नहीं था। मन्त्र द्वारा प्रस्तुत धारणा के साथ साधक के तादात्म्य की सिद्धि में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। अभिनव के शब्दों में कहें : 'क्रमस्फुटत्वकरणं भावनां परिचक्षते'। भावना क्या है, इसे स्पष्ट रूप में जानने के लिए हम उस अभिनेता को देख सकते हैं जो अपने द्वारा अभिनेय पात्र के मनोभावों के साथ एकाकार होने का प्रयत्न कर रहा है। वह उस पात्र की उक्ति पर मनन करने और उस उक्ति में निहित अर्थ के द्वारा व्यक्त होने वाले भाव के साथ एकाकार होने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उस उक्ति के द्वारा कवि जिस भाव को ध्वनित करना चाहता है उससे तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है। इसी प्रकार साधक भी मन्त्र पर क्रमशः मन को एकाग्र करता है, मन्त्र का निहितार्थ उसके समक्ष स्पष्ट हो जाता है; वह उस अर्थ के साथ तदात्म हो जाता है और क्योंकि वह अर्थ विश्वात्मा है, अतः वह विश्वात्मा के साथ एक हो जाता है। वह यह भी नहीं देख पाता कि कब उसका वैयक्तिकता का कंचुक गिर चुका था।

सत्-तर्क भी भावना की प्राप्ति कराता है। विश्वात्मा के साथ जीव के अभेद का ज्ञान कराने वाला तर्क सत्-तर्क है। यह सत्-तर्क अपने सर्वोच्च धरातल पर अज्ञान के आवरण को भेद डालता है। अपने यथार्थ स्वरूप में जो शुद्ध प्रमाता है, उसकी प्रतीति इस अज्ञान के कारण वस्तुनिष्ठ रूप में हो रही थी। अज्ञान के इस आवरण को भेद कर साधक वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने वाले तत्त्व की वास्तविक शुद्ध प्रमातृता को जान लेता है। इस प्रकार सत्-तर्क की परिणति भावना में होती

है। प्रत्यभिज्ञा में जिसे सद्विद्या कहा गया है, वह सत्-तर्क, मन्त्र और भावना, इन सबसे मिलकर बनी है।

तन्त्रों एवं वैदिक उपासनाओं में अनुष्ठित सभी विधियाँ सद्विद्या के इस धरातल की प्राप्ति के लिए ही हैं। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में वर्णित 'हिरण्मयपुरुषोपासना' अथवा 'दहरोपासना' भी भावना की अवधारणा पर आधारित हैं। सत्-तर्क, मन्त्र एवं भावना का अभिनवगुप्तकृत विवेचन तन्त्रों और विशेषकर क्रम एवं कुल तन्त्र पर आधारित है। उनका विवेचन उनके अपने अनुभव और उनके गुरुओं के अनुभव द्वारा समर्थित है। इसलिए भावनाशास्त्र पर उनके निष्कर्ष उन व्यक्तियों के लिए अन्तिम प्रमाण हैं जो परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए तन्त्र के मार्ग से जाना चाहते हैं।

(ग) 'तन्त्र' का मार्ग

यहाँ तन्त्रों[8], विशेषतः क्रम और कुल, के विषय में कुछ शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा। प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय से हम शैवाद्वैत का दर्शन प्राप्त करते हैं जबकि अद्वैत तन्त्रों से हमें वह साधना-मार्ग प्राप्त होता है जिसके द्वारा हम जीव और परमतत्त्व के ऐक्य का वास्तविक जीवन में साक्षात्कार कर पूर्ण योगी की स्थिति पा सकते हैं। पूर्ण योगी वह है जिसने परमतत्त्व को उन दोनों ही मार्गों से प्राप्त कर लिया है जिन्हें 'बाह्यादन्तःप्रवेशः' और 'आभ्यन्तराद् बाह्यस्वरूपानुप्रवेशः' कहा गया है। परमतत्त्व की प्राप्ति के दो मार्ग हैं। एक में 'बाह्य का आन्तर में विलय' अपेक्षित है जबकि दूसरे में 'बाह्य का आन्तर के ही स्थूल रूप में दर्शन' आवश्यक है। प्रथम मार्ग का अनुसरण सीमित शक्ति वाला योगी करता है और दूसरे का अनुसरण पूर्ण योगी करता है। पूर्ण योगी वस्तुनिष्ठ विषय के अनुभव द्वारा भी पूर्णात्मा का अनुभव प्राप्त करता है क्योंकि वह विषय को भी आत्मा के रूप में ही देखता है[9]।

श्री रामकृष्ण परमहंस पूर्ण योगी की इस स्थिति तक पहुँच चुके थे। कोई विशिष्ट स्थिति उनके नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत होने पर वे तुरन्त भाव में डूबकर समाधि की अवस्था में पहुँच जाते थे। एक बार उन्होंने नीलाकाश में उड़ती हुई सारसपंक्ति देखी। इस सुन्दर दृश्य को देखते ही वे इतने विभोर हुए कि क्षण-भर में उनकी निर्विकल्पक समाधि लग गई। उनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन उनके जीवनीकारों ने किया है।

अभिनवगुप्त द्वारा अनुसृत क्रम एवं कुल संप्रदाय अद्वैत-तन्त्र के सहोदर संप्रदाय हैं। दोनों ही अद्वैतवादी चिन्तन का प्रतिपादन करते हैं। 'द्वादशकाली' की अवधारणा दोनों में समान है। वैसे कुछ मुद्दों पर इनमें मतभेद भी हैं। उदाहरण

के लिए, कुल संप्रदाय में परतत्त्व की प्राप्ति का साक्षात् उपाय अहं-परामर्श (अहं का मनन) है जिसे शाम्भवोपाय कहा गया है। किन्तु क्रम संप्रदाय निर्धारणात्मक प्रत्यय (विकल्प) के संस्कार की क्रमिक अवस्थाओं के माध्यम से साक्षात्कार के उपाय का विधान करता है। शाक्तोपाय के नाम से प्रसिद्ध इस मार्ग में वे अवस्थाएँ बतलाई गई हैं जिनसे गुज़र कर प्रत्यय का पूर्ण संस्कार होता है। क्रम का प्रत्यभिज्ञा से भी कुछ विवरणात्मक बिन्दुओं में भेद है। प्रत्यभिज्ञा का संबन्ध छत्तीस तत्त्वमीमांसीय प्रवर्गों से है जबकि क्रम का मुख्य सरोकार आध्यात्मिक प्रवर्गों से है और यह इन्हीं के माध्यम से परमतत्त्व की प्राप्ति मानता है। सच तो यह है कि इसे क्रम कहा ही इसलिए गया है क्योंकि यह मोक्ष की प्राप्ति क्रमिक अवस्थाओं में मानता है। द्वादशकाली की पूजा क्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए कर्मकाण्ड इस संप्रदाय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु कुल अपने अनुयायियों से कर्मकाण्ड का निषेध करता है। प्रत्यभिज्ञा न तो इसका विधान करता है, न निषेध करता है।

इन तीनों में क्रम प्राचीनतर संप्रदाय प्रतीत होता है। सातवीं शताब्दी ई. से 12वीं शताब्दी तक का काल कश्मीर में सघन दार्शनिक गतिविधियों का काल था। इस काल में आगमों पर आधारित अनेक संप्रदाय प्रकाश में आए और आध्यात्मिक अनुभव अनेक संप्रदायों के रूप में परिणत हुए जिन्हें तन्त्र का नाम दिया गया। इनमें कुछ शिव को परमतत्त्व मानते थे जबकि अन्य संप्रदाय शक्ति को परम कहते थे। क्रमशः कुल के नाम से एक नया संप्रदाय कश्मीर में प्रचलित हुआ जिसका उद्भव मूलतः कामरूप (असम) में हुआ था। **परात्रिंशिका** पर कश्मीर में अनेक टीकाओं का लिखा जाना यह दिखलाता है कि कुल को कश्मीर के सिद्धों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संप्रदाय माना।

क्रम-संप्रदाय के भीतर भी दो आम्नाय थे। एक शिव को परमतत्त्व मानता था जबकि दूसरा काली अथवा काल-संकर्षिणी के नाम से शक्ति को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करता था। क्रम संप्रदाय के आगम पार्वती अथवा भैरव द्वारा प्रकट किये गए। शक्ति को सर्वोच्च मानने वाला आम्नाय क्रमशः शाक्त मार्ग के नाम से जाना जाने लगा।

शक्ति अथवा काली को परमतत्त्व मानने के कारण क्रम-संप्रदाय को 'कालीनय' या 'देवीनय' भी कहा गया। सोमानन्द, वैयाकरणों की एक परिपाटी के आधार पर, स्त्रीतत्व को चरम तत्त्व मानने के पक्ष में नहीं थे। व्याकरण में माना गया है कि स्त्रीवाची शब्द का मूल स्रोत सदैव एक पुल्लिंग रूप हुआ करता है। सोमानन्द का कहना था कि शाक्तों द्वारा शक्ति को परमतत्त्व मानने का कारण उनकी अतिशय भक्ति ही थी। किन्तु अभिनव सोमानन्द से सहमत नहीं थे। उन्होंने काली को

परासंविद् से अभिन्न माना और कहा कि कालीनय में उल्लिखित पाँच प्रकार के कार्य करने के कारण परासंविद् को काली कहा गया है।

शाक्त संप्रदाय की दो विलक्षण प्रवृत्तियाँ हैं : एक, कि यह परमतत्त्व को स्त्रीरूप मानता है और दूसरा, कि यह अनुष्ठान में 'पंच मकार' का प्रयोग करता है। ये विशेषताएँ क्रम एवं कुल दोनों ही संप्रदायों में है। 'पंच मकार' से तात्पर्य 'म' अक्षर से आरम्भ होने वाले इन पाँच शब्दों से है : मत्स्य, मुद्रा, मांस, मदिरा, और मैथुन। काली को परमतत्त्व मानने वाला संप्रदाय अनुष्ठान में मदिरा, मांस और सुन्दरी के प्रयोग का समर्थन करता है।

इसलिए प्राचीन काल में भी, और आधुनिक समय में भी चिन्तकों ने शाक्त मत की निन्दा की है क्योंकि पञ्च मकार का प्रयोग उनके अनुसार भ्रष्ट आचरण है। अभिनवगुप्त के समय में और उनसे पूर्व भी, क्रम और कुल संप्रदाय के विरुद्ध यह आपत्ति उठती रहती थी। उदाहरण के लिए राजशेखर की **कर्पूरमञ्जरी** में कौल साधक का विद्रूपात्मक चित्रण हुआ है। उसके मुख से कौल धर्म का निम्नलिखित वर्णन प्रस्तुत कराया गया है :

रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा,
मांसं मद्यं खाद्यते पीयते च।

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में अभिनवगुप्त ने इन दोनों तन्त्रों की साधना का अनुष्ठान किया। उन्होंने उनके विषय में लिखा भी है। इसलिए यह देखा जाए कि वे इस अनुष्ठान में मांस, मदिरा और मैथुन के प्रयोग के विषय में क्या कहते हैं।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि मांस एवं मदिरा का प्रयोग तो वैदिक अनुष्ठानों में भी होता है। तो भ्रष्ट आचरण का दोष उन पर भी आरोपित करना होगा। इस संदर्भ में एक मूलभूत प्रश्न जो वेद एवं शैव मत, दोनों में समान है, यह है : 'कोई वस्तु अपने आप में शुद्ध है, या अशुद्ध ?' नैतिक संदर्भ में पूछें तो 'कोई कर्म अपने आप में उचित है या अनुचित ?', वे कहते हैं कि शुद्धि अथवा अशुद्धि अपने आप में किसी वस्तु का मूलभूत गुण या स्वरूप नहीं हो सकती। वस्तुतः शुद्धि या अशुद्धि की धारणाएँ प्रमाता की अपनी धारणाएँ हैं जो उस वस्तु के साथ दृढ़ रूप से जुड़ी हुई हैं। केवल इसी रीति से इस बात की व्याख्या हो सकती है कि एक व्यक्ति के लिए जो शुद्ध है वह दूसरे व्यक्ति के लिए उससे भिन्न क्यों है। एक वस्तु की शुद्धता और दूसरी की अशुद्धता की धारणा उस शास्त्र से उद्भूत होती है जिसमें व्यक्ति की निष्ठा है।

कोई कर्म अपनी प्रकृति से उचित है या अनुचित ? कुल संप्रदाय में अनुष्ठानों

की दो अवस्थाएँ हैं : बाह्य और रहस्य। रहस्य कौल के अनुष्ठान करने के लिए अधिकारी में कुछ अर्हताएँ होना आवश्यक है।

कुलयोग के उन अनुष्ठानों का अधिकार, जिनमें मद्य, मांस और सुन्दरी का प्रयोग आवश्यक है, केवल उन महात्माओं को है :

(1) जिन्होंने परमतत्त्व का निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिनका लक्ष्य रंचमात्र भी भौतिक अथवा सामाजिक नहीं है, अपितु शुद्ध रूप से आध्यात्मिक है ;

(2) जिन्होंने राजयोग के अभ्यास द्वारा इतनी पूर्णता प्राप्त कर ली है कि वे सर्वाधिक उत्तेजक ऐन्द्रिय स्थिति की किसी भी सीढ़ी पर अपने मन को निर्लिप्त कर सकें;

(3) जो इच्छाशक्ति मात्र से प्राणों को मध्यनाड़ी (सुषुम्ना) में प्रविष्ट करा सकें और ऐन्द्रिय भाव से सर्वथा मुक्त हो सकें;

(4) जिनका अपने आप पर इतना संयम हो कि जिस समय उनकी इन्द्रियाँ परम काम्य वस्तु के घनिष्ठ संपर्क में हों, तब भी वे उस संपर्क का विच्छेद करके परम सत्ता के साथ एकाकार हो सकें।

इन गुणों से संपन्न व्यक्ति ही मांस, मद्य और सुन्दरी के प्रयोग वाले कुलयोग अथवा आदियाग को करने के अधिकारी हैं। इस प्रकार यह रहस्यानुष्ठान केवल उन लोगों के लिए है जो इच्छानुसार निर्विकल्पक समाधि में जाने और स्थिरता के साथ उसमें रहने में सक्षम हैं।

कुल-संप्रदाय में इस रहस्यानुष्ठान का प्रयोजन एवं लक्ष्य मदिरा एवं रमणी का भोग नहीं अपितु यह परीक्षा करना है कि क्या साधक का अपने चित्त पर इतना संयम है कि वह परम काम्य पदार्थ से उसे हटा कर शुद्ध आत्मा पर एकाग्र कर सके।

शैव संप्रदाय में धर्म को दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता। उसके धार्मिक पक्ष का संबन्ध दर्शन में निर्दिष्ट सर्वोच्च अवस्था तक क्रमशः पहुँचाने वाली साधना से है। भारतीय चिन्तन में परमतत्त्व कोरी तार्किक परिकल्पना नहीं है। यह ऐसी तार्किक परिकल्पना है जो साधना से प्राप्त हो सकती है। यह साधना सभी के लिए एक नहीं है अपितु भिन्न-भिन्न धरातल तक पहुँचे हुए पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के लिए भिन्न है। कौल धर्म में साधकों की तीन अवस्थाएँ हैं : (1) वे, जिन्हें व्यावहारिक स्तर पर भी संपूर्ण विषयरूप संसार आत्मा के रूप में भासित होता है; (2) वे, जो निर्विकल्पता की निम्नतर अवस्था तक पहुँचते हैं; और (3) वे, जो निर्विकल्पता की अवस्था तक पहुँचने में असमर्थ हैं और जिन्हें कुछ भी

आत्मा के रूप में भासित नहीं होता। कुलयोग अथवा आदियोग के अनुष्ठान का अधिकार उच्चतम धरातल तक पहुँचने वालों को ही है और इसका प्रयोजन यह जानना है कि क्या वास्तव में साधक ने अपेक्षित स्थिति को प्राप्त कर लिया है। कालिदास कहते हैं कि केवल वही लोग स्थिर चित्त वाले (धीर) हैं जो परम प्रलोभनास्पद स्थितियों में विचरण करते हुए भी किंचिन्मात्र प्रभावित नहीं होते :

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर भी कहते हैं कि वैराग्य की स्थिरता की परीक्षा एक-दो बार होनी ही चाहिए[10]। शिवत्व की चरम अवस्था तक पहुँचने के लिए इस कठिन परीक्षा से गुज़र कर उत्तीर्ण होने वाले साधक ही नीचे नहीं उतरते। आधुनिक युग में श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवन इस अवस्था का उदाहरण है। हम देखते हैं कि वे विभिन्न धर्मों की विविध साधना-पद्धतियों से गुज़रे थे। भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशन में उन्होंने तन्त्रसाधना का भी अभ्यास किया था और उसमें वे अनुष्ठान भी शामिल थे जिनमें मद्य, मांस और सुन्दरी का प्रयोग अपेक्षित था। तन्त्र में उनकी गुरु या मार्गदर्शक ब्राह्मणी यह देखकर चकित हो गई थी कि इन उत्तेजक वस्तुओं को देखते ही वे तुरन्त निर्विकल्पक समाधि में चले जाते थे और स्थिर भाव से उसी में मग्न रहते थे।

यह परीक्षा साधक के जीवन की सबसे कड़ी परीक्षा है। इसकी तुलना असिधारा पर चलने, बाघ को कान से पकड़ने और कालसर्प को हाथ से पकड़ने के साथ की गई है[11]। साधारण व्यक्ति तो ऐसा सोच भी नहीं सकता। किन्तु श्रीशंभुनाथ के सुयोग्य निर्देशन में कौल साधना करने वाले अभिनवगुप्त जैसे साधक आदियोग की कठिन परीक्षा को अत्यन्त सफलता पूर्वक पार कर जाते हैं और भैरव अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त करते हैं। अपने इस असाधारण गुण के कारण ही अभिनवगुप्त समस्त संप्रदायों द्वारा शैव धर्म के श्रेष्ठतम आचार्य के रूप में संमानित हुए। वे पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि जगदानन्द के लिए उनकी खोज उनके आचार्य शंभुनाथ के नेतृत्व में पूर्ण हुई (तदेतं जगदानन्दमस्मभ्यं शंभुरूचिवान्)।

सामान्य व्यक्ति के लिए इस स्थिति को प्राप्त करना असंभव है। यदि यह साधना उसके हाथ पड़ जाए तो इसका दुरुपयोग अनिवार्य है। इसलिए इसे सदैव गोपनीय रखा गया और अधिकारी अध्येताओं को इसे मौखिक रूप में प्रदान किया गया। किन्तु कुपात्र के हाथ पड़ने वाली अन्य सभी वस्तुओं की भाँति इसका भी दुरुपयोग हुआ और समग्र तन्त्रसाधना इन अनधिकारी व्यक्तियों के कारण कलंकित हुई। समय बीतने के साथ-साथ ऐसे व्यक्तियों की भरमार हो गई। साधना के

मनोविज्ञान का पूर्ण विश्लेषण करने वाली यह परीक्षा जो सच्चे और समर्थ साधकों द्वारा परम-अवस्था की प्राप्ति की घोषणा करती थी, छद्म साधकों का साधन बन गई जिसके द्वारा वे स्वयं भी पतित हुए और दूसरों को भी नरक का मार्ग दिखलाने लगे। जो अनुष्ठान कभी धर्मसाधना की कठोर परीक्षा हुआ करता था, वह कदाचार और कपट का साधन बन गया। यह शंकर के इस कथन की सत्यता को दर्शाने वाला ज्वलन्त उदाहरण है : अनुष्ठातॄणां कामोद्भवात् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेनाधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे (वह स्थिति, जिसमें साधन और साध्य का विवेक न करने वाले और उन्हीं वस्तुओं को अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनाने वाले तथाकथित साधकों की स्वार्थपरक कामनाओं के कारण श्रेष्ठ धार्मिक आचार अधर्म के साधनों में बदल जाते हैं)। ऐसी स्थितियों में दिव्य शक्ति किसी उपयुक्त माध्यम के द्वारा अपने आपको प्रकट करने लगती है और जीवन एवं शास्त्र को पुनरुज्जीवित करती है। ऐसे एक माध्यम अभिनवगुप्त (960-1020 ई.) थे। उन्होंने सभी विविध तन्त्रों को एक संप्रदाय में आबद्ध किया। उन्होंने स्वानुभव के द्वारा तान्त्रिक विधियों की परीक्षा की और सच्चे साधकों को अपनी कृतियों के माध्यम से एक शास्त्र एवं अनुष्ठान-विधि प्रदान की। इन कृतियों में **तन्त्रालोक** का विशिष्ट स्थान है।

तान्त्रिक आचारों के प्रयोजन एवं स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अध्यात्म के पथ पर साधना के विभिन्न धरातलों की प्राप्ति के लिए है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारी दैनिक अर्चना, जैसे संध्या-वन्दन एवं देवपूजा में भी मन्त्र और तन्त्र का समावेश है। कतिपय तान्त्रिक आचारों के अनुष्ठान के बिना हम मन्त्रों के प्रयोजन और अर्थ की उपलब्धि और अनुभव नहीं कर सकते, चाहे वे मन्त्र वेद के हों या पुराणों अथवा तन्त्रों के। उदाहरण के लिए, क्रम-दर्शन में बतलाया गया है कि हमारा शरीर एक मंदिर (पीठ) है जिसमें द्वादशकाली निवास करती हैं। इसमें गणेश का तादात्म्य प्राण से, बटुक का अपान से और इसी प्रकार अन्य देवताओं का तादात्म्य बतलाया गया है (देखें, अभिनवकृत **देहस्थदेवतास्तोत्र**)। इसकी तुलना वैदिकों द्वारा 'लघुरुद्र' के अनुष्ठान के समय किये जाने वाले अंगन्यास से करें। अनुष्ठान करने वाला निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण एवं भावना करता है :

अग्निर्मेवाचि श्रितः, वाक् हृदये, हृदयं मयि, अहममृते, अमृतं ब्रह्मणि।
वायुर्मे प्राणे श्रितः......ब्रह्मणि।
सूर्यो मे चक्षुषि श्रितः......ब्रह्मणि।
चन्द्रमा मे मनसि श्रितः......ब्रह्मणि।

इत्यादि।

इसका भाव यह है : 'ब्रह्म ने अपने आपको अग्नि, वायु, सूर्य आदि के रूप में अभिव्यक्त किया है और मेरे शरीर के विविध अंगों में प्रेरक वही है। अतः मेरे शरीर के सभी विविध व्यापार अन्ततः ब्रह्मशक्ति के ही व्यापार हैं।' यह मन्त्रों के अर्थ को समझने की तान्त्रिक विधि है। न केवल विधियाँ, अपितु तन्त्र में मान्य देवताओं को भी वैदिकों के अनुष्ठानों में स्थान दिया गया है। मातृकापूजन तो किसी भी शुभ अवसर पर किया जाता है। स्थल–मातृकाओं की सूची इस प्रकार है :

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी षडेताः स्थलमातरः।।

यहाँ उल्लिखित मातृकाएँ इस प्रकार हैं : ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही ओर इन्द्राणी। क्रम संप्रदाय में स्वीकृत देहस्थ देवताओं में इनकी भी गणना की गई है (अभिनवकृत **देहस्थदेवतास्तोत्र**)। इसी प्रकार अनेक स्तोत्रों के साथ प्रयुक्त देवता, शक्ति, अर्गला, कीलक, कवच की अवधारणा (देखें, सुप्रसिद्ध **रामरक्षास्तोत्र**) भी तान्त्रिक संप्रदायों के उपहार हैं। प्रतिदिन संपन्न होने वाली षोडशोपचार पूजा वस्तुतः वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक मन्त्रों और विधियों का अत्यन्त मांगलिक संमिश्रण है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखें, तो हम भारतीय चिन्तन को अभिनवगुप्त के योगदान का बेहतर मूल्यांकन कर सकेंगे। किसी अनुष्ठान के अंग के रूप में हमें जो भी क्रियाएँ करनी हैं, उनमें से प्रत्येक के निहितार्थ एवं प्रयोजन को अभिनव ने **तन्त्रालोक** में स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिए, पूजानुष्ठान को ले लें जिसमें उपास्य देवता को विविध पदार्थ अर्पित किये जाते हैं। हम देवता को चन्दन, पुष्प आदि अर्पित करते हैं। किन्तु यह तो केवल एक प्रकट क्रिया है जो मानसिक वृत्ति का स्थूल रूप है। इस प्रकार, मूर्तिपूजा मानसपूजा का बाह्य प्रस्तुतीकरण है। मानसपूजा में पूज्य, पूजक एवं पूजा भिन्न प्रतीत होते हुए भी समान धरातल पर (समानाधिकरण) हैं क्योंकि वे सभी मन की अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु यह भी पूजा में चरमावस्था नहीं है। इस मानसपूजा की चरम परिणति लगभग उस अवस्था के रूप में होनी चाहिए जहाँ पूज्य, पूजक और पूजा का भेद लुप्त हो जाता है और पूर्ण एकत्व की अवस्था रहती है। विश्वात्मा में निजत्व का यह लय ही वास्तविक पूजा है। इसलिए मूर्ति को पुष्प आदि चढ़ाना पूजा नहीं है अपितु परमात्मा में विनीत भाव से लीन होने का नाम पूजा है। अभिनवगुप्त कहते हैं :

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।।

(**त.आ.**, IV. 24)

समस्त भेदों से मुक्त इस एकत्वावस्था का अनुभव धार्मिक साधक को उपलब्ध होने वाली चरमावस्था है। इससे परे ऐसा कुछ नहीं है जो वाणी अथवा चिन्तन का विषय हो। अतः अभिनव इसे 'अनुत्तर' कहते हैं (पूजा-पूजक-पूज्य-भेदसरणिः केयं कथानुत्तरे)। उपनिषद् के प्रसिद्ध श्लोक में भी इसी अवस्था का उल्लेख है :

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन[12]।।

(घ) उपसंहार

अभिनवगुप्त के बारे में जो अध्ययन इन अध्यायों में हुआ है उसके आधार पर निश्चित रूप से हम उन्हें कश्मीर के **शिवाद्वय दर्शन** का महानतम आचार्य कह सकते हैं। **शैवाद्वैत** के प्रतिपादकों में उनका वही स्थान है जो अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादनकर्ताओं में श्रीशंकराचार्य का है। कश्मीर के शैवों के लिए शैव चिन्तन और कर्मकाण्ड में वे परम प्रमाण हैं। काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में, उस क्षेत्र के आचार्यों ने उन्हें अन्तिम प्रमाण माना है।

भारत का पूर्ण अद्वैतवादी चिन्तन दो धाराओं में चलता रहा है : शंकर का अद्वैत वेदान्त और अभिनवगुप्त का शैव दर्शन। एक का उद्भव निगम (वेद) से हुआ है और दूसरे का आगम से। किन्तु अद्वैत रूप में परमतत्त्व के साक्षात्कार के बिन्दु पर वे दोनों एक साथ मिलते हैं। यदि हम किसी विशेष शब्दावली अथवा संप्रदाय-विशेष के प्रति अनुरक्ति को अलग रखकर इन दोनों को देखें तो पाएँगे कि दोनों एक ही तत्त्व का उपदेश करते हैं। उदाहरण के लिए दो पद्य लें :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये।।

(स्वप्नावस्था में स्वप्न-जगत् स्वप्नद्रष्टा मन में अभिन्न है और फिर भी भिन्न प्रतीत होता है; किन्तु वही मन जब जाग्रदवस्था में लौटता है तो स्वप्न-जगत् लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान तत्त्वतः आत्मा के साथ अभिन्न होते हुए भी जगत् माया के कारण आत्मा से भिन्न और बाह्य प्रतीत होता है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार होने पर जगत् लुप्त हो जाता है और केवल आत्मा अद्वैत रूप में रहता है। दक्षिणामूर्ति के रूप में अपने गुरु उस आत्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।)

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुनः
मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

(अंकुर बीज में उसके साथ एकाकार होकर पहले ही विद्यमान है। इसी प्रकार यह जगत् नाम-रूपविहीन स्थिति में आत्मा में पहले से ही अभेदावस्था में रहता है। और माया नामक शक्ति के प्रभाव में वह नामों और रूपों की विविधता में अभिव्यक्त होता है।)

ये पंक्तियाँ और उनमें निहित चिन्तन को अवश्य ही हम अभिनवगुप्त का मानेंगे किन्तु सत्य यह है कि ये पंक्तियाँ शंकराचार्यकृत **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** से ली गई है। और अब निम्नलिखित पद्य को देखें :

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः।।

(तात्त्विक रूप में, मनुष्य के लिए संसार है ही नहीं। फिर बन्धन की बात क्यों? जब बन्धन एक मिथ्या कल्पना है तो मुक्त होने की क्रिया का कोई अर्थ नहीं। रज्जु में सर्प, अथवा पिशाच की छाया की भाँति यह सब (संसार, बन्धन, मुक्ति) मिथ्या विश्वास या मोह पर आधारित है। इसलिए मेरे मित्र, न कुछ त्यागो न कुछ ग्रहण करो, बस जैसे हो, जहाँ हो, स्वस्थ भाव से रहो।)

ये पंक्तियाँ अभिनवगुप्त के एक स्तोत्र से हैं किन्तु इस तथ्य से अनजान व्यक्ति अवश्य ही इसे शंकराचार्य का श्लोक मान बैठेगा।

शंकर के अद्वैत वेदान्त और अभिनव के शिवाद्वय दर्शन की ये दो चिन्तन-धाराएँ समय के साथ जैसे-जैसे एक दूसरे के निकट और निकटतर आती हैं, प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम की भाँति एक दूसरी में मिल जाती है। अपने मिलन की आरम्भिक अवस्था में गंगा-यमुना की धाराएँ कुछ दूर तक अलग-अलग पहचानी जा सकती हैं। इसी प्रकार, ये दोनों चिन्तन-धाराएँ भी भास्करकण्ठ की **भास्करी** और माधवाचार्य के **सूतसंहिताभाष्य** में एक-दूसरी से मिलती दिखलाई देती हैं। दोनों धाराएँ मिल रही हैं; किन्तु एक को शान्तब्रह्मवाद और दूसरी को स्फुरणब्रह्मवाद कहा गया है। समय बीतने के साथ-साथ ये दोनों धाराएँ एक होकर अद्वैत दर्शन के नाम से जानी गईं। भारत के सन्त कवियों की रचनाओं में यह बात स्पष्टतया

देखी जा सकती है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ और तुलसीदास जैसे सन्तों द्वारा प्रोक्त अद्वैत चिन्तन-सरणी में दोनों चिन्तन धाराओं के भाव एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि इन कवियों ने अपनी रचनाओं का आधार शंकर को बनाया है या अभिनवगुप्त को। वे अपने विचारों की व्याख्या के लिए किसी भी माध्यम का सहारा लेने में नहीं झिझकते। दोनों प्रकार का चिन्तन पूरी तरह से एक-दूसरे से मिलकर एक हो गया। सन्त कवियों की रचनाओं में जहाँ दार्शनिक चिन्तन की व्याख्या शंकराचार्य की शब्दावली में की गई है वहीं परब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधक जिन अवस्थाओं से गुज़रता है उन्हें प्रत्यभिज्ञा की शब्दावली में बतलाया गया है। अपने पूर्ववर्ती अद्वैत चिन्तकों की अपेक्षा, अभिनवगुप्त इन अवस्थाओं की चर्चा अधिक विस्तार से कर सके हैं। उदाहरणार्थ, अनुभव की चार अवस्थाओं को उन्होंने सात अवस्थाओं में वर्गीकृत किया। विश्वातीत अवस्था का विविध स्तरों में विश्लेषण साधनापथ में उनका श्रेष्ठतम योगदान है। वे यह योगदान कर सके क्योंकि वे एक ही साथ दार्शनिक और योगी थे और विभिन्न संप्रदायों के गुरुओं से दीक्षा प्राप्त कर चुकने के कारण विभिन्न प्रकार की तान्त्रिक विधियों का अनुष्ठान कर चुके थे। अतः हम कह सकते हैं कि यदि शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में अपने कश्मीर भ्रमण द्वारा कश्मीर के अद्वैत तन्त्रों को क्रमबद्ध करने के कार्य को गति दी तो ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने अद्वैत दर्शन को साधना और तन्त्रों के विवेचन पर आधारित मनस्तात्त्विक विश्लेषण से संबन्धित अनेक विवरण उपलब्ध कराकर उस ऋण को चुका दिया।

और वह पद्धति किस प्रकार सूक्ष्मतर और अधिक विकसित थी ? अभिनव का कथन था कि महेश्वर विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, दोनों ही हैं। साधना की सांख्ययोग-पद्धति से प्रभावित कुछ वेदान्ती मानते थे कि व्यावहारिक जगत् उनकी साधना में एक बाधा है, और इसलिए वे संसार के त्याग का समर्थन करते थे। किन्तु जो लोग परतत्त्व को केवल विश्वोत्तीर्ण नहीं, अपितु विश्वमय भी मानते हैं, वे संसार में यह मानकर रहते हैं कि निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य करते हुए संसार में रहना ईश्वरोपासना का एक साधन है और सांसारिक जीवन और मोक्ष में कोई विरोध नहीं है। शैव दर्शन प्रत्येक लौकिक अनुभव को आध्यात्मिक पक्ष की दृष्टि से देखता है। अतः इन दोनों में कोई संघर्ष नहीं है, जैसा निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है :

परमार्थे तु नैकत्वं पृथक्त्वाद् भिन्नलक्षणम्।
पृथक्त्वैकत्वरूपेण तत्त्वमेकं प्रकाशते[13]।।

परमतत्त्व के विश्वोत्तीर्ण होने के साथ-साथ विश्वमय भी होने की इस मूलभूत धारणा के कारण ही अभिनवगुप्त अपने रस-सिद्धान्त को सफलतापूर्वक विकसित

कर सके। भारत का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन मानता है कि कोई कलाकृति परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में उपस्थापित करती है और, कि यदि प्रमाता में आवश्यक प्रमातृनिष्ठ निमित्त विद्यमान हों तो कलाकृति में इन्द्रियग्राह्य रूप का उचित रसास्वाद परब्रह्म के साक्षात्कार का अनुभव कराता है।

महेश्वर को विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण मानने वाली यह अवधारणा भक्तियोग की भी आधारशिला रही है। भारत के महान् चिन्तकों जैसे शंकर, अभिनव, चैतन्य, मधूसूदन सरस्वती, ज्ञानेश्वर और तुलसीदास आदि की लेखनी से भक्ति-भाव का प्रवाह निःसृत हुआ है। वे न केवल दार्शनिक और योगी थे अपितु, साथ ही साथ, भक्त भी थे। दार्शनिक के रूप में वे पूर्णतः तार्किक थे। किन्तु उनके स्तोत्रों में उनके भक्तिमय हृदय की अमृतमय स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है। यहाँ हम केवल एक उदाहरण देंगे। अभिनवगुप्त कहते हैं कि महेश्वर एक ही साथ विश्वोत्तीर्ण भी हैं और विश्वमय भी। तुलसीदास भी कहते हैं :

सगुणहि अगुणहि नहि कछु भेदा।
गावत मुनि पुरान अरु वेदा।।

अगुन अरूप अलख अज सोई।
भगत प्रेमबस सगुन सो होई।।

जो गुनरहित सगुन सोई कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहीं जैसे।।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

एक दारुगत देखिय एकू।
पावक सम जुगब्रह्म विवेकू[14]।।

इसलिए अभिनवगुप्त पर इस विनिबन्ध का समापन हम उनके एक स्तोत्र के कुछ श्लोकों से करना चाहेंगे, जिनमें :

(क) दार्शनिक को महेश्वर के यथार्थ स्वरूप की पहचान मिलेगी;
(ख) योगी को अपने आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन मिलेगा;
(ग) आलंकारिक को ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण मिलेगा;
(घ) भक्त भक्तिरस के माधुर्य का आस्वाद लेगा;
(ङ) अभिनव का अध्येता इन सभी अभिव्यक्तियों में प्रकाशित होती हुई परा-प्रतिभा की किरणों का संधान पाएगा।

स्तोत्र के शब्द इस प्रकार हैं :

1. प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये।
सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्तये।।

2. त्वं त्वमेवाहमेवाहं त्वमेवासि न चास्म्यहम्।
अहं त्वमित्युभौ न स्तो यत्र तस्मै नमो नमः।।

3. अन्तर्देहे मया नित्यं त्वमात्मा च गवेषितः।
न दृष्टस्त्वं न चैवात्मा यच्च दृष्टं त्वमेव तत्।।

4. भवद्भक्तस्य संजातभवद्रूपस्य मेऽधुना।
त्वामात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः।।

5. अलं भेदानुकथया त्वद्भक्तिरसचर्वणात्।
सर्वमेकमिदं शान्तमिति वक्तुं च लज्जते।।

6. त्वत्स्वरूपे जृम्भमाणे त्वं चाहं चाखिलं जगत्।
जाते तस्य तिरोधाने न त्वं नाहं न वै जगत्।।

7. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्या धारयंश्च निजाः कलाः।
स्वेच्छया भासि नटवन् निष्कलोऽसि च तत्त्वतः।।

8. त्वत्प्रबोधात्प्रबोधोऽस्य त्वन्निद्रातो लयोऽस्य यत्।
अतस्त्वदात्मकं सर्वं विश्वं सदसदात्मकम्।।

(**महोपदेशविंशतिकम्**, श्लोक 1-4 एवं 8-11)

इन श्लोकों का मुक्त अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है :

1. विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय तुम्हें प्रणाम; तुम सदैव आनन्दरूप में प्रकाशित होते हो ओर अनन्त शक्तियों से युक्त आत्मा हो।

2. तुम तुम हो, मैं मैं हूँ। तुम ही हो, मैं नहीं हूँ। और वह अवस्था जहाँ न तुम हो, न मैं हूँ, वह जो भी हो, मैं उसे नमन करता हूँ।

3. मैंने अपने अन्तर में तुम्हें और (अपने) आत्मा को खोजने का निरन्तर प्रयास किया। न तो मैं तुम्हें पा सका, न आत्मा को, और जो मैंने पाया वह केवल तुम्हीं थे।

4. तुम्हारा भक्त होकर मैं तुम्हारा स्वरूप बन गया और मैंने अपने आत्मा के रूप में तुम्हें पा लिया । तुम्हें और मुझे दोनों को मैं नमन करता हूँ।

5. (तुम्हारे और मेरे बीच) भेद की बात बहुत हो चुकी। तुम्हारी भक्ति के रस का निरन्तर आस्वादन करता हुआ मैं अब तो यह कहने में भी संकुचित होता हूँ कि यह सब शान्त हो चुका है।

6. तुम्हारे अभिव्यक्त रूप में मैं तुम्हें, अपने को और जगत् को देखता हूँ ; जब तुम अपने आप में विलीन हो जाते हो, तो न तुम हो न मैं हूँ, न जगत् है।

7. जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की भूमिकाएँ धारण करते हुए तुम सभी प्रकार से नट के रूप में प्रतीत होते हो ; तात्त्विक रूप में तो तुम रूपरहित हो।

8 तुम्हारी जाग्रदवस्था में, जगत् का आविर्भाव होता है। तुम्हारी निद्रा में, जगत् का लय होता है। विरोधों (सत्-असत्) से निर्मित् जगत् केवल तुम्हारे द्वारा ही व्याप्त है।

परिशिष्ट

टिप्पणियाँ एवम् उद्धरण

एक

1. निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश-
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।।

तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्।।

(त.आ., खण्ड XII. पृ. 404-5)

2. तस्मिन्कुबेरपुरचारु सितांशुमौलि-
सांमुख्यदर्शनविरूढपवित्रभावे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसम्पत्।।

(वही, पृ. 411)

3. तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त-
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा
यस्याकरोत्परमनुग्रहमाग्रहेण ।।

(वही)

4. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः।

(त.आ.,I. पृ. 3)

अस्य हि ग्रन्थकृतः श्रीनरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ इति गुरवः।

(वही, टीका, पृ. 14)

5. शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम्।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम्।।
ज्ञानभावनया सर्वं कर्तव्यं साधकोत्तमैः।

एवं विधसिद्धयोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्थतया
तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुर्यो भवेद् गर्भे।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः।।

इत्युक्तनीत्या स्वात्मनि निरुत्तरपदाद्वयज्ञानपात्रतामभिदधता ग्रन्थकृता निखिलषडर्धशास्त्रसारसंग्रहभूतग्रन्थकरणेऽप्यधिकारः कटाक्षीकृतः।

(त.आ., I. टीका, पृ. 14-15)

6. अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।

(त.आ., I. पृ. 50)

7. तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य
लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
संमन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यत्त्वत्र हासमुखतत्त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न जहासतीति।।

(अ.भा., I. 29)

8. ये संपदं तृणममंसत शम्भुसेवा–
संपूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः।

(त.आ., XII. पृ. 417)

9. (क) अहमप्यत एवाधः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात्।
नास्तिकार्हतबौद्धादीनुपाध्यायानसेविषम्।।

(त.आ., VIII. पृ. 206)

(ख) श्रीचन्द्रचन्द्रवरभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवभक्तिविचित्रनाथाः।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्रीभूतीशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः।।

(त.आ., XII. पृ. 415)

10 (क) श्रीशंभुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम्।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजम्.........................।।

(त.आ., I. पृ. 51)

(ख) बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति।

(वही, श्लोक 16, पृ॰ 33)

11. अभिनवगुप्तेन मया शिवचरणस्मरणदीप्तेन।

शिवस्य परश्रेयःस्वभावस्य स्वात्मस्थस्य चिदानन्दैकमूर्तेः यानि चरणानि चिद्रश्मयः तेषां स्मरणं शब्दादिविषयग्रहणकाले निभालनं प्रतिक्षणं स्वानुभवाप्रमोषः तेन दीप्तः पराहन्ताचमत्कारभास्वरः...इत्युपदेष्टुः समाविष्टमहेश्वरस्वभावोऽनेनोक्तः स्यात्।।

(Abhi., पृ॰ 16-17 से उद्धृत)

12 (क) दर्श्यते तत् शिवाज्ञया।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात्।

(त॰आ॰, I. पृ॰ 149)

(ख) इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम्।

(त॰आ॰, IV. पृ॰ 202)

13. तस्यैतत् प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्ययदायिका।।

सर्वसत्त्ववशित्वं च तृतीयं तस्य लक्षणम्।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम्।।

कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं सालङ्कारमनोहरम्।
सर्वशास्त्रार्थवेतृत्त्वमकस्मात्तस्य जायते।।

समस्तं चेदं चिह्नजातमस्मिन्नेव ग्रन्थकारे प्रादुर्भूतमिति प्रसिद्धिः। यद्गुरवः –
अकस्मात्सर्वशास्त्रार्थज्ञत्वाद्यं लक्ष्मपञ्चकम्।
यस्मिन् श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमदृश्यत जनैः स्फुटम्।।

(त॰आ॰, VIII. पृ॰ 136-137)

14. मोटकी देहाकृति उमटे, आणि ज्ञानाची पाहांट फुटे।
सूर्यापुढें प्रगटे, प्रकाशु जैसा।। 452

तैसी दशेची वाट न पाहतां, वयसेचिया गांवा न येतां।
बालपणींच सर्वज्ञता, वरी तयातें।। 453

तिये सिद्ध प्रज्ञेचेनि लाभें, मनचि सारस्वतें दुभे।
मग सकल शास्त्रें स्वयम्भें, निघती मुखें।। 454

तैसे दुर्भेद जे अभिप्राय, का गुरुगम्य हन ठाय।
तेथे सौरसेंवीण जाय, बुद्धि तयाची।। 459

(ज्ञानेश्वरी, अध्याय 6)

15. न वेदवेदाङ्गपरिश्रमो मे न तर्कशिक्षा न च काव्यशिक्षा।
तथापि तावत् परिमार्ष्टि मान्द्यं गुरूपदेशप्रतिपत्तिदार्ढ्यम्।।

येषां केषां कुर्वन्ननुजीवतां शिवत्वम्।
वाचा हीनो व्याजेन नित्यपूर्णः स देशिकः।।

16. (क) शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
....
....
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते।।

(अनुभवनिवेदनम्)

(ख) सोऽहं निर्व्याजनित्यप्रतिहतकलनानन्तसत्यस्वतन्त्र-
ध्वस्तद्वैताद्वयारिद्वयमयतिमिरापारबोधप्रकाशः।

(परमार्थद्वादशिका)

17. इत्थं गृहे वत्सलिकावतीर्णे स्थितः समाधाय मतिं बहूनि।
पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्धया शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम्।।

(त.आ., XII. पृ. 425)

18. श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः श्रीकण्ठनाथ एवेति।
प्रतिपद्यतामितरथा व्याख्यातृत्वं कथं भवेदित्थम्।।

दो

1. इति नवतितमेऽस्मिन्वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विदितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः।।

2. एतदष्टादशे तत्त्वमधिकारे भविष्यति।

3. उपाये नाग्रहः कार्य उपेया भैरवी स्थितिः।
यासौ स्वसंवित् तामेव सर्वोपायां समाविशेत्।।

तीन

1. ....सिद्धा एवं चतुर्दश।
यावत्पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः।।
तेन यः स च कालेन काश्मीरेष्वागतो भ्रमन्।।

नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः।।

आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः।।

(शि॰दृ॰, VII)

2. षट्शास्त्रविद् यो वेदस्य षडङ्गज्ञश्च वेदवित्।
स एव श्रीप्रत्यभिज्ञाऽध्ययनेऽधिकृतो भवेत्।।

3. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।

किं तु मोहवशादस्मिन् ज्ञातेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदिश्यते।।

(ई॰प्र॰वि॰, I. पृ॰ 29,35)

4. न विद्यते उत्तरमधिकं यतः। ....उत्तरं च शब्दनं तत् सर्वथा 'ईदृशं तादृशम्' इति व्यवच्छेदं कुर्यात्। तद् यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नमिदमनुत्तरम्।

(प॰त्रि॰वि॰, 19,21)

5. (क) उक्तं च कामिके देवः सर्वाकृतिर्निराकृतिः।

(त॰आ॰, I. पृ॰ 104)

(ख) सर्वाकृतिर्विश्वमयः निराकृतिर्विश्वोत्तीर्णः।

(त॰आ॰, I. पृ॰ 105)

6. तथा परामर्शनमेव अजाड्यजीवितमन्तर्बहिष्करणस्वातन्त्र्यरूपम्।

(ई॰प्र॰वि॰, I. 198)

7. स्वातन्त्र्य की अवधारणा पाणिनीय सूत्र 'स्वतन्त्रः कर्ता' में अच्छी तरह व्यक्त होती है। विमर्श-शक्ति में अन्य सभी पक्ष समाविष्ट हैं। अभिनवगुप्त के शब्दों में –

सर्वा शक्तीः कर्तृत्वशक्तिः ऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति सा च विमर्शरूपा इति युक्तमस्या एव प्राधान्यम्।

(ई.प्र.वि., I. 214)

अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि स्वातन्त्र्यशक्ति ही अन्य सभी शक्तियों में व्याप्त है। देखें :

एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण विद्यते।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।।

(त.आ., I. 107)

जयरथ की टीका भी द्रष्टव्य है : वस्तुतः पुनरप्यहम्प्रत्यवमर्शात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति।।

(त.आ., I. 108)

8. यदि महेश्वर एक ही रूप में रहता तो अपने महेश्वरत्व और चैतन्य को घट आदि की भाँति त्याग चुका होता।

9. स एव हि स्वात्मा सन् वक्तव्यः यस्य अन्यानुपाहितं रूपं चकास्ति।

(ई.प्र.वि., I. 42)

10. अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः।
नियतानेन स विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः।।
विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः।
विश्वाकृतित्वाच्चिदचित् तद्वैचित्र्यावभासकः।।

(त.आ., I. 98-99)

11. तेन सर्वक्रियास्वतन्त्रे सर्वशक्तिके इति यावदुक्तं भवेत् तावदेव कर्तरि ज्ञातरि इति।

(ई.प्र.वि., I. 32)

12. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(कठोपनिषद्, V. 2.25)

13. शक्तिश्च नाम देवस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने।।

ातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम्।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव।।

(त.आ., I. 109-110)

14. स्वरूपान्तर्ब्रुडितमर्थराशिमपरमपि भिन्नाकारमात्मनि परिगृह्य कञ्चिदेवार्थं स्वरूपादुन्मग्नमाभासयति इत्यापतितम्। सैषा ज्ञानशक्तिः। उन्मग्नाभाससंभिन्नं च चित्स्वरूपं बहिर्मुखत्वात् तच्छायानुरागात् नवं नवं ज्ञानमुक्तम्।

(ई.प्र.वि., I. 108)

15. एवमपि नवनवाभासाः प्रतिक्षणमुदयव्ययभाजः इति सैव व्यवहारनिवहहानिः। तेन क्वचिदाभासे गृहीतपूर्वे यत्संवेदनं बहिर्मुखमभूत् तस्य यदन्तर्मुखं चित्स्वरूपं तत्कालान्तरेऽपि अवस्थास्नु स्वात्मगतं तद्विषयविशेषे बहिर्मुखत्वं परामृशति इत्येषा स्मृतिशक्तिः (मायाप्रमातरि तदेतत्स्मरणमुच्यते तत्तथाविधं प्रमात्रादिनिर्माणसामर्थ्यं तद् भगवतः स्मृतिशक्तिरिति भावः)।

(वही, I. 109)

16. यत्किल आभास्यते तत्किल संविदो न विच्छिद्यते संविच्च ततः, संविच्च संविदन्तरात् संवेद्यं च संवेद्यान्तरात्। न च विच्छेदनं वस्तुतः संभवति इति विच्छेदनस्य अवभासमात्रम्।.......एष च परितश्छेदनात्परिच्छेद उच्यते। तदवभासनसामर्थ्यमपोहनशक्तिः (तथा च यया भगवतः स्वातन्त्र्यशक्त्या मायीयप्रमातुर्विकल्परूपं विज्ञानं सा अपोहनशक्तिरिति फलितार्थः।)

(वही, I. 110)

17. मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः।।

(वही, II. 13)

18. यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावति ईश्वरो राजेव। अनीश्वरस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वे स्वभावविरुद्धे यतः। आत्मा च सर्वत्र ज्ञाता कर्ता च इति सिद्धा प्रत्यभिज्ञा।

(वही, I. 44)

19. तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद् भेदे विभाते परम्।
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने।।

(त.आ., VI. 3)

20. एकैकत्रापि तत्त्वेऽस्मिन्सर्वशक्तिसुनिर्भरे।
तत्तत्प्राधान्ययोगेन स स भेदो निरूप्यते।।

(वही, VI. 49)

21. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्।

(ई.प्र.वि., प्रस्तावना-श्लोक, I. 1)

22. तस्य च प्रथमसृष्टावस्माकमन्तःकरणैकवेद्यमिव ध्यामलप्रायमुन्मीलितचित्रमात्रकल्पं यद् भावचक्रं तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथाप्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत्सदाशिवतत्त्वम्।

(वही, II. 192)

23. बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्।

(वही, 191)

24. जिस अवस्था में चैतन्य अपने आपको वस्तु के रूप में अभिव्यक्त करने को उत्सुक रहता है, वह ईश्वर कहलाती है जबकि सदाशिव वह अवस्था है जिसमें वस्तुनिष्ठता प्रमाता में लीन है। सद्विद्या की अवस्था में चैतन्य के कर्तृनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ पक्ष साम्यावस्था में होते हैं।

25. य एते अहमिति इदमिति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम्, अहमिति ग्राहके इदमिति च ग्राह्ये, तन्निरासेन एकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्संगमनं संबन्धरूपतया प्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या अतोऽशुद्धविद्यातो मायाप्रमातृगताया अन्यैव।

(ई.प्र.वि., II. 196)

26. माया परमात्मा के साथ निरन्तर जुड़ी हुई उनकी शक्ति का नाम है अनेकत्व को आभासित करने का स्वातन्त्र्य इसके स्वरूप में है और इसी के कारण वह अनेकत्व के रूप में भासित होता है।

27. सा जडा भेदरूपत्वात्कार्यं तस्या जडं यतः।
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात्सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात्।।
शिवशक्त्यविनाभावात् नित्यैका मूलकारणम्।

(त.आ., VI. 117)

28. मायास्वीकारपारतन्त्र्यात् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वमयोऽपि बोधः, सर्वज्ञत्वादिगुणापहस्तनेन अख्यातिरूपमाणवमलमापन्नः येन घटाकाशवत् पूर्णरूपाच्चिदाकाशात् अवच्छेद्यपरिमितिकृतः सन् तदेव पुंस्त्वमुच्यते।

(परमार्थसारटीका, डॉ॰ पांडेयकृत
Abhl., पृ॰ 373 से उद्धृत)

29. धीपुंविवेके विज्ञाते प्रधानपुरुषान्तरे।
अपि न क्षीणकर्मा स्यात् कलायां तद्धि संभवेत्।।

एककर्तृकारकीभूतत्वेन लक्ष्यान्तरत्वेऽपि भगवदनुग्रहात् कस्यचिद् यदा अनयोर्विवेकज्ञानं जायते तदासौ मायापुंविवेकः सर्वकर्मक्षयात् विज्ञानाकलता च भवेद् येनायं पुमान् मायाधो न संसरेत् (जयरथ)।

(त.आ., VI. 143-44)

30. किञ्चित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत्।
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरञ्जकम्।।

(त.आ., VI. 157)

31. काली नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते।
यन्नाम परस्य प्रकाशस्य कालेन योगः सास्य शक्तिः स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो जगतस्तत्तद्रूपतया कलने सामर्थ्यम्।

(त.आ., आह्निक VI. 6)

32. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।

33. विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम्।
कलाकार्यम् ... ...।।

(त.आ., VI. 161)

34. देहपुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम्।
एतत्षट्कससंकोचं यदवेद्यमसावणुः।।

(त.आ., VI. 164)

35. वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला।

(त.आ., VI. 171)

36. इस अनुभाग के मुद्दों के विस्तृत विवरण के लिए कृपया देखें : **Abhi.**, पृ॰ 382-427।

चार

1. तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचरात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मकपरचित्त–वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षादिभिः लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैः विभावानुभावनसमुपरञ्जकत्वप्राणैः अत

एवालौकिक विभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः।

(अ॰भा॰, I. 285)

2. विभावा हि काव्यबलानुसंधेयाः, अनुभावाः शिक्षातः, व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधेयः। रतिशोकेत्यादिशब्दाः रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न च वाचकादिरूपतया अवगमयन्ति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यादिप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः खलु सुखी रामः असावेवायमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह–

प्रतिभाति न संदेहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।

विरुद्धबुद्धिसंभेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया।।

(अ॰भा॰, I. 274-75)

3. तस्मात् काव्येन दोषाभावगुणालङ्कारमयलक्षणेन नाट्येन – चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलात् हृदि विस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

(अ॰भा॰, I. 278-79)

4. ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा अन्विताभिधानदृशीव उपायात्मकं सत्यं वा अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपं वा रसान्तराणि भावाभिनिवेशदृष्टानि दृश्यन्ते।

(अ॰भा॰, I. 270)

5. नाट्ये तु पारमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवंभूताभिसन्धि-संस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदास्वादपर्यन्तं विरसनादरणीयलोकोत्तर-दर्शनश्रवणोपयोगी भविष्यामीत्यभिसन्धिसंस्कारात्, उचितगीतातोद्यचर्वणा-विस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतहृदयः सूत्राद्यभिनयाद्यालोकनात् उद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः।

(अ॰भा॰, I. 37)

6. पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानालिङ्गिनि सम्यङ्मिथ्यासंशयसंभावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शाद्यनास्पदे।

(वही)

7. किं तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरपर्याय-सहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादि-सरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया।

(लोचन)

8. इस मृग को देखो; अभिराम रीति से अपनी ग्रीवा को मोड़ते हुए इसने पीछा करते हुए रथ पर अपनी दृष्टि को निबद्ध कर लिया है और बाण गिरने के भय से यह अपने शरीर के पिछले भाग से मानों अगले भाग में प्रविष्ट हो रहा है। थकान के कारण हाँफ़ते हुए मुख से गिरती हुई, आधी चबाई हुई घास से मार्ग को भरता हुआ यह मृग अपनी लगातार ऊँची कुदानों के कारण पृथ्वी पर कम और आकाश में अधिक विचरण कर रहा है।

9. 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां मृगपोतकादिः भीतः, तस्य विशेषत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वात् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं तदेव निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः।

(अ.भा., I. 280)

10. तेन ये काव्याभ्यासबलादतिसहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेन परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति।

(वही, I. 283)

11. नीचे हम एक ही स्थान पर कुछ उद्धरण दे रहे हैं जिन पर हमारा शान्त रस का विवेचन आधारित है :

(क) कस्तर्ह्यत्र स्थायी? उच्यते – इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव। तेन आत्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपभोगरहितोऽत्र स्थायी।

(ख) उपरागदायिभिः उत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवद् यदाहिततत्स्वरूपं सकलेषु रत्यादिषु उपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं पराङ्मुखतात्मकसकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधते।

(ग) तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यनन्तरं शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक इत्यादि शान्तलक्षणं पठ्यते। अत्र सर्वप्रकृतित्वाभिधानाय पूर्वमभिधानम्।

(मेसन और पटवर्धन की पुस्तक **Shanta Rasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics** के 'शान्तरसप्रकरण' से उद्धृत)

पाँच

1. तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः।।

रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः।।

(जयरथ, डॉ॰ राघवन के प्रबन्ध
भोज'स् शृंगारप्रकाश में उद्धृत)

2. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रपञ्च्यते।।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

(ध्वन्यालोक)

3. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

(वही)

4. शब्दानुशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।

(वही)

5. अर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।

(वही)

6. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

(वही)

7. जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता।।

8. गुञ्जन्ति मञ्जु परितः गत्वा धावन्ति संमुखम्।
आवर्तन्ते निवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः।।

9. दयिते वदनत्विषां मिषादयि तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः।।

10. सकलप्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं यदपि वा लोकोत्तरं रसचर्वणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते। तदानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वादः।।

(लोचन)

11. अर्थालंकारमध्य एव रसा अपि किं नोक्ताः ? उच्यते। काव्यस्य शब्दार्थौ तावत्शरीरं तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसस्तु सौन्दर्यादय इव सहजो गुण इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः।

(रुद्रट के **काव्यालंकार** पर नमिसाधु की टीका)

12. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।।

(**लोचन** का मंगलश्लोक)

13. तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी।
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः।।

(त॰आ॰)

14. अविभागैकरूपत्वं माधुर्यं शक्तिरुच्यते।
स्थानवाद्यादिघोषोत्था स्फुटतैव च पारुषी।।

(वही)

15. या तु चर्मावनद्धादि किञ्चित्तत्रैव यो भवेत्।
सा स्फुटास्फुटरूपत्वात् मध्यमा स्थूलरूपिणी।।

(वही)

16. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।

(पाणिनीय **अष्टाध्यायी**)

17. प्रतिभा के विषय में **ध्वन्यालोक**, भट्ट तौत, **लोचन** और **अभिनवभारती** से संग्रहीत कुछ उद्धरण हम नीचे दे रहे हैं :

(क) प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यं

(भट्ट तौत)

(ख) सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

(ध्वन्यालोक)

(ग) तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभाविचित्रितप्रतिपतृ-प्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः।

(लोचन)

(घ) प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वमेवास्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्।

(वही)

(ङ) प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेशवैवश्य-सुन्दरकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।

(वही)

(च) प्रतिपत्तॄन प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना, अपितु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः।

(लोचन)

(छ) शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।

(वही)

(ज) क्षणे-क्षणे यन्नूतनैर्वैचित्र्यैर्जगन्त्यासूत्रयति।

(वही)

(झ) ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यात्मा प्रकाशितः।
अनेनानन्त्यमायाति यदि स्यात्प्रतिभागुणः।।

तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नानात्वमायाति। तच्च प्रतिभानन्त्ये सत्युपपद्यते।

(ध्वन्यालोक एवं लोचन)

(ञ) व्यापारोऽस्ति च तद्विदां तदभ्यासपराणां च तथाभूतविषयात्मक-काव्यावलोकने झटित्येव प्रतिभाति।

(अ.भा., II. 298)

(ट) परमार्थतस्तु परकीयप्रोत्साहनतारतम्योदितप्रकृतिभानप्रत्ययेन वा स्वतः प्रतिभानमाहात्म्येन वा।

(अ.भा.)

(ठ) परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती।

येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ-परिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति।

(ध्वन्यालोक)

18. भस्मच्छन्नाग्निवत्स्फौट्यं प्रातिभे गौरवागमात्।
बीजं कालोपसिक्तं हि यथा वर्धेत तत्तथा।।
योगयागजपैरुक्तैर्गुरुणा प्रातिभं स्फुरेत्।

(त.आ.)

छः

1. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।।

2. आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ।
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः।।

सात

1. (क) दशरूपकभेदवत्तस्य ताण्डवप्रयोगो नाट्यभेद एव च तत्र पूर्णानुकाररूपत्वात्......नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः।

(अ.भा., खंड I. पृ॰ 208)

(ख) यत्तत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमागकमिकत्वेन दर्शितं तदस्माभिर्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते।

(अ.भा., खंड 4. पृ॰ 120)

(ग) दो अन्य उद्धरण डॉ॰ राघवन् ने अपनी पुस्तक **अभिनवगुप्त एंड हिज़ वर्क्स** (पृ॰ 133-34) में दिये हैं।

2. ध्वन्यात्मभूते शृंङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।।

(ध्वन्यालोक)

3. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।।

(वही)

4. इस विषय के विस्तृत प्रतिपादन के लिए डॉ॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय की पुस्तक **Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study** का चतुर्थ अध्याय देखें।

5. येनाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्कोपयोगतः ।।

(त.आ., III. पृ॰ 102)

6. बौद्धाः एकमेव संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकप्रकारविवर्तं पश्यन्नित्याद्युक्त्या बुद्धिवृत्यात्मकं ज्ञानमेव तत्त्वं प्रतिपन्ना इति बुद्धितत्त्वावाप्तिरेव तेषां मोक्षः।........

सांख्याश्च सुखदुःखाद्यात्मकप्रकृतिपृथग्भावेन पुंस एव स्वरूपेणावस्थानं तत्त्वं प्रतिपन्ना इति पुंस्त्वप्राप्तिरेव तेषां मोक्षः। सांख्यपातञ्जलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः ईश्वरप्रणिधानात्तद् विशिष्यत इति तेषां पुंस्त्वत्वोर्ध्ववर्तिनि नियतितत्त्वप्राप्तिः।

(त.आ., टीका, I. 69-70)

7. यानुभूतिः सहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्तिः सैव 'मन्त्र' इत्यस्य शब्दस्याभिधेयतयानुभूयते। क्रमकेलौ च........"सेयमेवंविधा भगवती संविद्देव्येव मन्त्र इति।"

(महार्थमञ्जरी)

8. तन्त्र शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से उणादि प्रत्यय 'ष्ट्रन' जोड़कर व्युत्पन्न होता है।

9. तत्र बाह्यात् गृह्यमाणात् विषयग्रामादन्तः परस्यां चित्तभूमौ ग्रसनक्रमेण प्रवेशः समावेशो भवति।

(महार्थमञ्जरी में उद्धृत क्षेमराज)

10. परिनिश्चयाचे बल पहावे, एकदोनी वेल।
मग तुलवे आणि चोखल, मननवेरी।।

(ज्ञानेश्वरी)

11. कृपाणधारागमनात् व्याघ्रकर्णावलम्बनात्।
भुजङ्गधारणान्नूनमगम्यं कुलसेवनम्।।

12. जहाँ पहुँचने में असमर्थ होकर मन के साथ वाणी को लौटना पड़ता है, ऐसे उस ब्रह्मानन्द का अनुभव पा लेने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता।

13. परमार्थतः बहुत्व एकत्व से साररूप में भिन्न नहीं, अनेकत्व अथवा एकत्व के रूप में एक ही सत्ता प्रकाशित होती है।

14. मुनियों, पुराणों और वेदों ने कहा है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं। गुण, रूप, लक्षण एवं जन्म से रहित (निर्गुण) ब्रह्म भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है। (प्रश्न) : जो गुणरहित है वह सगुण कैसे हो सकता है ? (उत्तर) : जैसे बर्फ़, ओला और जल भिन्न नहीं हैं, वैसे ही निर्गुण और सगुण, दोनों एक ही हैं। दोनों अवर्णनीय, अगाध, अजन्मा और अनुपम हैं। निर्गुण और सगुण का भेद काष्ठ में अग्नि की भाँति है, एक (अनभिव्यक्त) लकड़ी में छुपी है और दूसरी (प्रकट) देखी जा सकती है।

संदर्भिका

1. अभिनवगुप्त की मूल कृतियाँ

1. **अभिनवभारती** (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
2. **भगवद्गीतार्थसंग्रह** : (लक्ष्मण रैना संस्करण)
3. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
4. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
5. **ध्वन्यालोकलोचनम्** (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़)
6. **घटकर्परकुलकविवृतिः** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
7. **मालिनीविजयवार्तिकम्** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
8. **परात्रिंशिकाविवरणम्** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
9. **पर्यन्तपञ्चाशिका** (डॉ॰ वी॰ राघवन् द्वारा **अभिनवगुप्त एंड हिज़ वर्क्स** में प्रकाशित)
10. अभिनवगुप्त-विरचित स्तोत्र (डॉ॰ के॰ सी॰ पांडेय द्वारा अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक **अभिनवगुप्त** के परिशिष्ट में प्रकाशित)
11. **तन्त्रालोकः** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)

2. अन्य संस्कृत ग्रन्थ

1. भर्तृहरि : **वाक्यपदीयम्**
2. भास्करकण्ठ : **भास्करी** (सरस्वती भवन, वाराणसी)
3. जगन्नाथ : **रसगङ्गाधरः** (निर्णयसागर संस्करण)
4. क्षेमराज : **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
5. माधवाचार्य : **शंकरदिग्विजयम्**
6. माधवाचार्य : **सर्वदर्शनसंग्रहः** (भंडारकर ओरि॰ रि॰ इंस्टी॰, पुणे)
7. महेश्वरानन्द : **महार्थमञ्जरी** (काशी संस्करण)
8. पाणिनि : **अध्टाध्यायी**
9. शंकराचार्य : **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र**
10. सोमानन्द : **शिवदृष्टिः** (कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
11. उपनिषत्-संग्रह

3. अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1. Deshpande, G.T. : **Indological Papers**, Vol. I, Vidarbha Samshodhan Mandal, Nagpur.
2. Krishnamoorthy : **Dhvanyaloka** (Karnatak University).
3. Masson J.L. & Patvardhan M.V. : **Aesthetic Rapture**, Deccan College Research Institute, Poona.
4. Masson & Patvardhan: **Shanta Rasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics**, B.O.R.I., Poona.
5. Pandey, K.C. : **Abinavagupta** (2nd edition), Chaukhamba Sanskrit Series.
6. Pandey K.C. : **Comparative Aesthetics**, Vol. I (Indian Aesthetics), Chaukhamba Sanskrit Series.
7. Raghavan, V. : **Abhinavagupta and His works** (Chaukhamba Edn.).

4. हिन्दी एवं मराठी ग्रन्थ

1. देशपांडे, गणेश त्र्यंबक : भारतीय साहित्यशास्त्र
2. देशपांडे, गणेश त्र्यंबक : भारतीय साहित्यशास्त्रातील सौन्दर्यविचार
3. देशपांडे, गणेश त्र्यंबक : स्पन्दकारिका
4. ज्ञानदेव : ज्ञानेश्वरी
5. तुलसीदास : रामचरितमानस

5. निबन्ध

1. "शांकर अद्वैत आणि काश्मीर शिवाद्वयदर्शन", डॉ. एस.डी. पेंडसे फेलिसिटेशन वाल्यूम में प्रकाशित (मराठी)
2. "चमत्कार : एक साहित्यशास्त्रीय संज्ञा", डॉ. आर. एस. वालिम्बे फेलिसिटेशन वाल्यूम में प्रकाशित (मराठी)

भारतीय नाट्यशास्त्र, काव्यालोचन और सौन्दर्यशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य अभिनवगुप्त (940-1015 ई.) का सम्बन्ध कश्मीर शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय से था। रससूत्र की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का अनुसरण किया है किन्तु साथ ही उन्होंने भट्टनायक की 'साधारणीकरण' की अवधारणा को भी स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक एवं *नाट्यशास्त्र* में प्रतिपादित सिद्धान्तों की सही जानकारी अभिनवगुप्त की टीकाओं से ही मिलती है। प्रवाहमय और अलंकृत शैली में लिखित उनकी टीकाएँ विशुद्ध काव्य के रूप में भी अपना स्थान रखती हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त और साधना, दोनों ही क्षेत्रों में वे अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत हैं।

इस पुस्तक के लेखक **गणेश त्र्यम्बक देशपांडे** सन् 1972 तक नागपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष पद पर रहे। साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित डॉ. देशपांडे ने वेद, अलंकारशास्त्र, व्याकरण एवं भारतीय दर्शन के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके प्रकाशनों में *भारतीय साहित्यशास्त्र, अलंकारप्रदीप* और *सांख्यकारिका* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस कृति के अनुवादक **मिथिलेश चतुर्वेदी** के अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** पर अपने शोध-कार्य द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। साहित्य अकादेमी उनके द्वारा अनूदित दो पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी हैं।

आवरण पर छपे चित्र में अभिनवगुप्त अपने शिष्यों को पढ़ा रहे हैं। यह अभिनवगुप्त के शिष्य मधुराज योगी के विवरण पर आधारित असित कुमार हलदार के चित्र की अनुकृति है।

ISBN-81-7201-845-2

पचास रुपए